भारतीय शिक्षा के मूल तत्त्व

लज्जा राम तोमर

सुरुचि प्रकाशन
केशव कुंज, झण्डेवाला,
नई दिल्ली – 110055

भारतीय शिक्षा के मूल तत्त्व

लज्जा राम तोमर

पुण्यार्जक – सकल दिगम्बर जैन समाज
नागपुर (महाराष्ट्र)

प्रकाशक :
सुरुचि प्रकाशन
केशव कुंज, झण्डेवाला,
नई दिल्ली – 110055
दूरभाष – 011-23514672/ 23634561
E-mail : suruchiprakashan@gmail.com
Website : www.suruchiprakashan.com

© सुरुचि प्रकाशन

भावाभिव्यक्ति हेतु सम्पर्क सूत्र –
1. अनुराग 'शिक्षक' – 09557022055
2. डॉ. सुधीर – 09926494401
3. मनोज – 09326191181
4. आनन्द बडकुल – 09890002200
5. मनीष जैन – 09730031310
E-mail : bharatiyashiksha14@gmail.com

पंचम संस्करण : मई, 2014

मूल्य : भारतीय शिक्षा पद्धति का प्रचार

मुद्रक : आर्टऐक्सल, नोएडा

ISBN : 978-93-81500-31-6

आमुख

शिक्षा व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक अर्थात् सर्वांगीण विकास करती है। शारीरिक विकास को यदि व्यापक रूप से देखें तो यह संपूर्ण व्यक्तित्व को सुगठित बनाता है। मानसिक विकास बुद्धिलब्धि के विकास के साथ हित – अहित को जानने की सामर्थ्य भी विकसित करता है जिससे उसमें स्वयं के साथ पर की और संपूर्ण राष्ट्र के हित की समझ भी विकसित हो जाती है। चारित्रिक विकास व्यक्तित्व को उत्कर्ष की ओर ले जाता है जिससे उसका आचरण प्राणि मात्र के प्रति संवेदनशील हो जाता है। यदि हमारी शिक्षा पद्धति व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करने में असमर्थ है तो उसका मूल कारण है कि भारतीय शिक्षा पद्धति के मूल तत्त्वों की उपेक्षा की गई है।

यद्यपि शिक्षा जगत् में शिक्षा से संबंधित साहित्य का विपुल भंडार है परंतु लेखक लज्जाराम तोमर की पुस्तक 'भारतीय शिक्षा के मूल तत्त्व' उसमें चमकता हुआ हीरा है। जन–जन से लेकर विद्वत् वर्ग ने भी इस पुस्तक की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। इस पुस्तक के विषय में मूकमाटी महाकाव्य के रचयिता **आचार्य श्री विद्यासागर जी** ने कहा कि 'यह पुस्तक बीज रूप में होकर भी वटवृक्ष के समान फल देने वाली है, इसको सभी के द्वारा पढ़ा जाना चाहिए। यह शिक्षा के क्षेत्र में बहुत ही उपयोगी सिद्ध होने वाली है।' **श्रमण दिवाकर जैनाचार्य श्री विद्यासागर जी** के अनुसार 'अध्यापन और प्रयोग के द्वारा विद्यार्थी को एक निश्चित आदर्श तक पहुँचाना शिक्षा है।' वस्तुतः स्वतंत्रता प्राप्ति का लंबा अरसा बीत जाने के उपरान्त भी हम अपनी शिक्षा पद्धति के आदर्श अथवा मानक निश्चित नहीं कर सके।

प्रस्तुत पुस्तक में उल्लिखित विषय मूर्धन्य विद्वानों एवं शिक्षा शास्त्रियों की भी अन्तर्चेतना को भी झकझोर देता है –

"उच्च शिक्षा स्तर पर चिकित्सा, वकालत, अभियान्त्रिकी आदि स्नातक स्तर के पाठ्यक्रम चल रहे हैं। इन सभी पाठ्यक्रमों में एक बहुत बड़ा अभाव है कि छात्र विशुद्ध तन्त्रज्ञ के रूप में प्रशिक्षण प्राप्त करता है, इन पाठ्यक्रमों में विशुद्ध बौद्धिक व्यायाम होता है। उसमें भावात्मक और नैतिक पक्ष की उपेक्षा की जाती है। इसका परिणाम यह है कि इन संस्थानों से निकलने वाले चिकित्सक अभियन्ता आदि हृदय की शिक्षा से शून्य रहते हैं।" (पृ. – 92)

हृदय से शून्य शिक्षा के कारण व्यक्ति में संवेदनाओं का अभाव हो रहा है तथा यह भी इसी का परिणाम है कि 2012 में हुए शोध के अनुसार अन्य देशों से प्रतिभापलायन करके अमेरिका पहुँचने वालों में भारत का सर्वोच्च स्थान (64 प्रतिशत प्रतिभा पलायन) है। दूसरे स्थान पर चीन (8 प्रतिशत से भी कम प्रतिभा पलायन) है। जो कि अत्यंत खेद का विषय है कि हमारी शिक्षा प्रणाली विद्यार्थियों को राष्ट्र प्रेम की भावना से ओतप्रोत करने में असमर्थ है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली पर यह बहुत बड़ा प्रश्न चिन्ह है।

इसका समाधान भी लेखक ने प्रस्तुत किया है – **"इन व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में भावात्मक शिक्षण हेतु इतिहास धर्म दर्शन और साहित्य आदि विषयों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए जिससे हृदय पक्ष का पोषण हो सके।"**

भारतीय शिक्षा दर्शन एवं मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक में **त्रिभाषा सूत्र** और **पंचमुखी शिक्षा प्रणाली** का अद्‌भुत वर्णन भारतीय समस्याओं के समाधान के लिए वरदान के समान है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली की सबसे गंभीर समस्या शिक्षण के माध्यम को लेकर है। पृष्ठ क्रमांक 118 पर वर्णित विषय 'शिक्षण का माध्यम मातृभाषा' इसका सहसा ही समाधान प्रस्तुत कर देता है – **"विदेशी भाषा (अंग्रेज़ी) के माध्यम से शिक्षित छात्र छात्रायें मानसिक एवं भावात्मक दृष्टि से देश की संस्कृति से जुड़ नहीं पाते। अच्छे से अच्छे विद्यार्थी को भी तोते की भाँति रटना पड़ता है।"**

मैकाले ने 1835 में अंग्रेज़ी माध्यम की शिक्षा पद्धति द्वारा शरीर से भारतीय और विचारों से अंग्रेज़ बनाने का षड्‌यंत्र रचा था। जिससे हम अभी भी निकल नहीं पा रहे हैं। हमारे देश में यह भ्रम व्याप्त है कि अंग्रेज़ी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है परंतु एक वक्तव्य के अनुसार 200 देशों में से सिर्फ 12 देशों में ही अंग्रेज़ी चलती है, 188 देशों में नहीं। तो अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा कैसे हुई? चीन, जापान, रूस, फ्रांस आदि देशों में अंग्रेज़ी चलती ही नहीं है फिर भी उनका विकास हुआ है। इन देशों में प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च स्तर पर विज्ञान, तकनीकी, प्रबंधन, चिकित्सा, विधि, आदि सभी विषय वहाँ की मातृभाषा में ही पढ़ाये जाते हैं।

यदि हमें मैकाले के षड्‌यंत्र से बाहर आना है तो प्राथमिक से लेकर उच्च स्तर की शिक्षा को मातृभाषा (भारतीय भाषाओं) में ही प्रदान करना होगा इसके लिए चिकित्सा, विज्ञान, तकनीकी, प्रबंधन, विधि आदि सभी विषयों पर भारतीय भाषाओं में शोध कार्य एवं अनुवाद को बढ़ावा देने की नितान्त आवश्यकता है। प्रत्येक राज्य

में भाषाई विश्वविद्यालयों की स्थापना हो और वे भी इस कार्य के प्रति निरंतर तत्पर रहें।

हम यहाँ पर उल्लेख करना आवश्यक समझ रहे हैं कि आधुनिक शिक्षा पद्धति को सुधारना और मातृभाषा को शिक्षण का माध्यम बनाना असंभव नहीं है। गिरिराज किशोर जी का लेख (अहा जिन्दगी पत्रिका जनवरी 2014 में प्रकाशित) विपुल संभावनायें प्रदान करता है। इसके अनुसार इंग्लैण्ड पर ड्यूक ऑफ विलियम (सन् 1066) के पूर्व इंग्लैण्ड में अंग्रेजी चलती थी परंतु उसने अधिपत्य के साथ अपनी फ्रेंच भाषा को भी स्थापित कर दिया। 200–300 वर्ष उपरान्त इंग्लैण्ड उसके शासन से तो आजाद हो गया परंतु वहां फ्रेंच बोलने वाले को श्रेष्ठ और अंग्रेजी बोलने वाले को हीन भावना से देखने लगे। "राष्ट्र प्रेमी अंग्रेजो ने हिम्मत नहीं हारी वे स्वीकार करते थे कि फ्रेंच, लेटिन और ग्रीक की तुलना में अंग्रेजी भाषा और उनका साहित्य नगण्य है, तुच्छ है। फिर भी अंततः वह उनकी अपनी भाषा है। यदि दूसरों की मातायें अधिक सुंदर और संपन्न हों तो क्या हम अपनी माँ को केवल इसलिए ठुकरा देंगे कि वह उनकी तुलना में असुंदर और अकिंचन है।' प्रयासों के उपरान्त इंग्लैण्ड में अंग्रेजी पुनः स्थापित हो गई।"

ड्यूक ऑफ विलियम के शासन के उपरान्त अंग्रेजी भाषा की जो स्थिति इंग्लैण्ड में थी वही स्थिति अंग्रेजो (मैकाले) के शासन के उपरान्त हमारी भारतीय भाषाओं की हमारे देश में है। अंग्रेजी की अपेक्षा हमारी भाषाओं का साहित्य और शब्द भंडार विशाल है। जब इंग्लैण्ड में फ्रेंच के स्थान पर अंग्रेजी का उत्थान हो सकता है तो सभी की लगन और कर्मठता से भारत में भी भारतीय भाषाओं और शिक्षा का उत्थान होना संभव है।

महात्मा गांधी जी के शिक्षा से संबंधित विचारों का भी लेखक ने इस पुस्तक में उल्लेख किया है। गांधी जी के अनुसार –

"समाज की सबसे बड़ी सेवा जो हम कर सकते हैं वह यह है कि हमने अंग्रेजी भाषा का जो अन्धपूर्ण सम्मान करना सीखा है उससे स्वयं मुक्त हों और समाज को भी मुक्त करें।"

भारतीय शिक्षा के सभी पहलुओं का लेखक ने जो अद्भुत वर्णन किया है वह पाठक की अन्तर्चेतना को झकझोर देता है। वस्तुतः यह पुस्तक गागर में सागर भरने की उक्ति को चरित्रार्थ करती है और भारतीय शिक्षा पद्धति को नयी दिशा प्रदान करती है। जो भारतीय इस पुस्तक का अध्ययन करेंगे वे अपने साथियों एवं अन्य व्यक्तियों को पढ़ाने के साथ विचार भी करेंगे और भारतीय शिक्षा पद्धति में इन मूल तत्वों को समाहित कराने का प्रयास भी करेंगे यही इस पुस्तक का सदुपयोग होगा।

जिससे हम लेखक लज्जाराम तोमर और भारत के प्रति उऋण हो सकेंगे। सभी नागरिकों, विद्वत्वर्ग, शिक्षा शास्त्रियों, समाज सेवियों एवं राष्ट्र भक्तों को शिक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में संलग्न होना चाहिए क्योंकि शिक्षा ही वह माध्यम है जिससे देश को उन्नत बनाया जा सकता है।

– एक भारतीय

भावाभिव्यक्ति

किसी भी इमारत का जीवन उसकी नींव की मज़बूती पर निर्भर करता है उसी प्रकार किसी भी राष्ट्र की प्रगति उस देश के देशवासियों की शिक्षा पर निर्भर करती है। इस शिक्षा को अगर हम डिग्री, ग्रेड या अंकों में खोजने की कोशिश करें तो यह हमारी उन प्रतिभाओं के प्रति अनदेखी होगी जो डिग्री, ग्रेड या अंक ख़रीद नहीं पाते। आज ज़रूरत है हमारे समाज को उस अकूत धन को बाँटने की जिसको बाँटने से बाँटने वाले की झोली कभी खाली नहीं होती बल्कि बढ़ती ही जाती है। वह अमूल्य पूँजी है, हमारा सांसारिक, भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान जिसे जरूरत है, अकल्पनीय व निस्वार्थ सेवा संस्थानों द्वारा बेहतरीन तकनीक का उपयोग करते हुए देश के हर अन्तिम व्यक्ति तक पहुँचाने की। यह ग्रन्थ एक अद्‌भुत रूप से लिखी गई अकल्पनीय विचारों की वह श्रृंखला है जिसमें वह सब कुछ समा गया है जो हमारी शिक्षा पद्धति को गति प्रदान करने के साथ ही हमारे देश को पूरे विश्व मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान कर सकता है।

हम आपको यह पुस्तक पढ़ने से पूर्व ही बधाई देने को आतुर हैं जो आपने इस अलौकिक ग्रन्थ को अपने दिल में स्थान देने का कार्य शुरु किया है। हम इस पुस्तक में व्याप्त ज्ञान के भंडार को असीमित देशवासियों तक पहुँचाने को आतुर हैं। इस ग्रन्थ के हर पृष्ठ पर आपको कुछ न कुछ अलौकिक अवश्य प्राप्त होगा जो आपके ज्ञान के भण्डार को प्रफुल्लित करने का कार्य करेगा और हर पृष्ठ नये पृष्ठ को पढ़ने की जिज्ञासा बढ़ाता चला जायेगा।

यह ग्रन्थ अमृत कलश के समान है। "बालक पढ़ते हैं न कि शिक्षक पढ़ाते हैं" यह वाक्य किसी के भी हृदय के द्वार को खोलने में सक्षम है। इस ग्रन्थ में शिक्षा और दर्शन पर बहुत ही बेहतरीन रूप से प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ में जीवन के लक्ष्य, धर्म व ईश्वरोपासना के सभी मार्गों पर बेहतरीन शब्दों में पिरोकर रोशनी डाली गई है। शिक्षा के भारतीय मनोवैज्ञानिक आधार को बहुत ही सरल भाषा में समझाया गया है। पंचमुखी शिक्षा शारीरिक, व्यवसायिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक के बारे में बेहतरीन जानकारी दी गई है। पाठ्यक्रम निर्धारण के सिद्धान्तों को बेहतरीन तरीके से समझाया गया है। "ज्ञान अर्जित किया जाता है, दिया नहीं जाता" जैसे वाक्य भाव–विभोर करने के लिए पर्याप्त हैं। विद्यालय किस प्रकार सामाजिक चेतना

का केन्द्र बन सकता है, इसे बहुत ही अच्छे तरीके से व्यक्त किया गया है। परिवार और शिक्षा आपसी समन्वय से किस प्रकार देश की प्रगति में योगदान दे सकती है, इसे समझाया गया है। परीक्षा और उसके मूल्यांकन की पद्धति में क्या परिवर्तन होने चाहिए इसे व्यक्त किया गया है। शिक्षण प्रक्रिया में शिक्षक या आचार्य के स्थान को दर्शाया गया है और उसके परिणामों व दुष्परिणामों पर रोशनी डाली गई है। शिक्षा में स्वायत्त की तुलना अनूठे तरीके से न्यायपालिका की स्वायत्त से की गई है।

बस अब क्या कहें इस ग्रन्थ के बारे में आपके द्वारा दी गई टिप्पणी ही इस ग्रन्थ के रचयिता श्री लज्जाराम तोमर जी को असली तोहफा होगी।

— प्रकाशक

प्रस्तावना

शिक्षा किसी भी देश की सभ्यता और संस्कृति का अनिवार्य अंग है। शिक्षा के द्वारा न केवल व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होता है, वरन् सामाजिक एवं सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण भी यह करती है। नयी पीढ़ी अपनी संस्कृति के प्रति आस्था और निष्ठा उसी शिक्षा के माध्यम से रख सकती है, जिसका आधार उनकी अपनी संस्कृति हो।

भारतीय शिक्षा में राष्ट्रवादी विचारधारा का सीधा सम्बन्ध भारतीयता और राष्ट्रीयता से रहा है। सन् 1947 में जब भारत स्वतंत्र हुआ था, तब भारत के लोगों ने समझा कि भारतीय शिक्षा में भारतीयता और राष्ट्रीयता स्वाभाविक रूप से महत्त्व का स्थान ग्रहण करेगी। किन्तु अंग्रेजी भाषा और संस्कृति के अधिकतर प्रेमी भारतीय शासन में उच्च पदों पर हैं। इन लोगों के कारण देश में दोहरी शिक्षा-प्रणाली चल रही है। अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों में धनी वर्ग के बच्चे पढ़ते हैं और हिन्दी माध्यम के विद्यालय मध्यम और निम्न वर्गों के बच्चों के लिये हो गये हैं। इस प्रकार अपने देश में शिक्षा के माध्यम की समस्या इसलिये उत्पन्न हुई है कि भारतीय शिक्षा के मूल तत्त्वों की उपेक्षा की गयी है।

अपने देश भारत में आज ऐसे अनेक शिक्षाविद् एवं विचारक हैं जो भारतीय शिक्षा के मूल तत्त्वों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं और बताते हैं कि किस प्रकार बालक-बालिकाओं में देश-प्रेम, संस्कृति-प्रेम एवं सद्गुण उत्पन्न किये जायें। यह हर्ष का विषय है कि अखिल भारतीय शिक्षा परिषद् विद्या भारती के संगठन-मंत्री श्री लज्जाराम तोमर ने अध्ययन-मनन करके 'भारतीय शिक्षा के मूल तत्त्व' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इन्होंने बड़े परिश्रम एवं लगन से भारतीय शिक्षा के मूल तत्त्वों का विवेचन किया है। श्री तोमर ने यह स्पष्ट किया है कि हमारी शिक्षा कैसी होनी चाहिए। इस

निमित्त इन्होंने उपयोगी सुझाव भी दिये हैं।

श्री तोमर का चिन्तन अनेक दृष्टियों से मौलिक है। इनकी भाषा और शैली प्रभावकारी है। हमें आशा है कि श्री तोमर के इस ग्रन्थ का शिक्षा–जगत् समुचित स्वागत करेगा और वे सभी लोग उनके ग्रन्थ से लाभान्वित होंगे जो शिक्षा द्वारा नव राष्ट्र–निर्माण के कार्य में संलग्न हैं।

डॉ. सीताराम जायसवाल
पूर्व निदेशक
भारतीय शिक्षा शोध संस्थान,
लखनऊ, उ.प्र.

भूमिका

भारत अपने जीवन के उषाकाल से ही ज्ञान की साधना में रत रहा है। सम्भवतः इसका नाम भी इसीलिये 'भा' अर्थात् प्रकाश = ज्ञान में रत 'भारत' पड़ा है। अपनी विशिष्ट शिक्षा पद्धति के कारण ही भारत ने सहस्रों वर्षों तक न केवल विश्व का सांस्कृतिक नेतृत्व किया, अपितु उद्योग–धन्धों, कला–कौशल एवं ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में भी अग्रणी रहा। प्राचीन भारत में ऋषियों ने गणित और विज्ञान की नींव रखी। उन्होंने काल और अवकाश, दोनों को गणनाबद्ध किया और अन्तरिक्ष को भी नापा। भारतीय ऋषियों ने पदार्थ की रचना का विश्लेषण किया और आत्मतत्त्व के स्वरूप का साक्षात्कार किया। उन्होंने तर्क, व्याकरण, खगोल शास्त्र, दर्शन, तत्त्वज्ञान, औषधिविज्ञान, शरीर–रचना विज्ञान और गणित जैसे विविध विषयों में महती प्रगति की। भारतीय समाज के नैतिक गुणों के सम्बन्ध में ई.पू. 300 वर्ष में ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज ने लिखा है, "किसी भारतीय को झूठ बोलने का अपराध न लगा। सत्यवादिता तथा सदाचार उनकी दृष्टि में बहुत ही मूल्यवान वस्तुएँ हैं।"[1] इस प्रकार भारतीय शिक्षा–पद्धति के द्वारा भारत ने ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु नैतिक स्तर की दृष्टि से भी बहुत प्रगति की। प्राचीन काल में शिक्षा का जन–सामान्य में प्रसार था। इसी कारण इसका समाज के जीवन पर प्रभाव था।

डा. अल्तेकर के अनुसार उपनिषत्काल में भारत में साक्षरता 80 प्रतिशत थी।[2] उपनिषद् साहित्य के एक राजा का यह कथन कि "मेरे राज्य में कोई भी निरक्षर नहीं है", निराधार नहीं है।"[3] तक्षशिला, नालन्दा, वल्लभी, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी, मिथिला, नदिया और काशी आदि विश्वविद्यालयों की ख्याति सम्पूर्ण विश्व में फैली हुई थी। बौद्ध काल में जन–सामान्य में शिक्षा–प्रसार को और अधिक प्रश्रय मिला। भारत के प्रायः प्रत्येक प्रमुख ग्राम में एक पाठशाला होती थी। उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल में 'टोल' तथा दक्षिण भारत में 'अग्रहार' नाम से हजारों की संख्या में विद्यालय चलते थे। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में केवल बंगाल में 80 हज़ार टोल थे। भारतीय शिक्षा का विशिष्ट उद्देश्य रहा – मानव व्यक्तित्व का उच्चतम विकास। भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों ही क्षेत्रों में भारतीय विद्यालयों ने ऐसे ज्ञान आविष्कृत किये, जिनके

1. Megasthenes-Fragment, p. 35.
2. Altekar-Education in Ancient India, p. 174.
3. म मे स्तेनो जनपदे मानाहिताग्निर्नाविद्वान्। छान्दोग्य उप. 5/11/5

ऋणी आज विश्व के दार्शनिक एवं वैज्ञानिक हैं।

भारत की शिक्षा–व्यवस्था को विदेशी आक्रमणों का भीषण आघात सहन करना पड़ा। मुसलमानों के शासन–काल में यहाँ के शिक्षा–केन्द्रों को नष्ट–भ्रष्ट कर दिया गया। किन्तु फिर भी मुस्लिम शासक भारतीय शिक्षा को उतनी हानि नहीं पहुँचा सके, जितनी हानि अंग्रेजों ने पहुँचाई। अंग्रेजों ने मुसलमान शासकों के समान शिक्षा–केन्द्रों को जलाकर या ध्वस्त करके नष्ट नहीं किया, प्रत्युत् भारत में अंग्रेजी शिक्षा–पद्धति प्रचलित की। मेकाले की कुटिल नीति के अनुसार 'अंग्रेजी शिक्षा–पद्धति के द्वारा भारतीय केवल शरीर से भारतीय रहेंगे, मन से वे पूर्णतः अंग्रेज बन जायेंगे।' उसकी वह नीति सफल हुई। अंग्रेजी शिक्षित भारतीय युवकों के मन में अपने धर्म, संस्कृति एवं जीवन–मूल्यों के प्रति तिरष्कार की भावना भड़क उठी और वे पश्चिमी सभ्यता की ओर आकृष्ट होने लगे। अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से भारत में बहुत बड़ी मात्रा में अंग्रेज अपने मानस–पुत्रों का निर्माण करने में सफल हुए।

दुर्भाग्यवश स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में आज भी थोड़े बहुत बाह्य परिवर्तन के साथ वही विदेशी शिक्षा–पद्धति प्रचलित है। उसी के परिणाम स्वरूप आज भारतीय जन–मानस विनाश के कगार पर खड़ा हुआ है। एक विद्वान के अनुसार, "वर्तमान भारतीय शिक्षा न 'भारतीय' है और न 'शिक्षा'।" प्रत्येक राष्ट्र का भविष्य उसकी शिक्षा–व्यवस्था पर निर्भर है, अतः आज सभी वर्तमान शिक्षा–पद्धति में परिवर्तन लाने की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं। यह संतोष का विषय है कि गैर–सरकारी क्षेत्र में इस दिशा में कुछ प्रयास भी आरंभ हुए हैं तथा प्रचलित शिक्षा–पद्धति के विकल्प के रूप में भारतीय शिक्षा–पद्धति के विकास हेतु देश में चिन्तन चल पड़ा है और कुछ प्रयोग भी हो रहे हैं।

इस चिंतन एवं प्रयोगों के फलस्वरूप यह 'भारतीय शिक्षा के मूल तत्त्व' ग्रन्थ प्रस्तुत है। लेखक कोई विद्वान अथवा शिक्षाविद् नहीं है, किन्तु शिक्षा क्षेत्र के सामान्य कार्यकर्त्ता के रूप में विद्वानों को पढ़ने एवं सुनने का अवसर उसे अवश्य प्राप्त हुआ है। उसी के आधार पर इस ग्रन्थ का लेखन संभव हुआ है। इसमें जो कुछ ग्रहण करने योग्य है वह सब विद्वज्जनों की संगति का फल है और जो त्रुटिपूर्ण है वह मेरी अल्पज्ञता के कारण है। यदि इस ग्रन्थ से उन लोगों को कुछ लाभ मिल सका, जो शिक्षा के माध्यम से राष्ट्र–निर्माण के कार्य में संलग्न हैं, तो मैं अपना प्रयास सफल समझूँगा। मैं उन सभी सहृदय विद्वज्जनों का हृदय से आभारी हूँ, जिनकी प्रेरणा से इस ग्रन्थ की रचना सम्भव हो सकी।

सुविख्यात शिक्षाविद् डा. सीताराम जायसवाल का भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखने की कृपा की।

–लज्जाराम तोमर

अनुक्रमणिका

1. **शिक्षा** 17—22

शिक्षा जीवन के विकास का पर्याय, शिक्षा आध्यात्मिक प्रक्रिया, शिक्षा संस्कृति की प्रणाली।

2. **शिक्षा और दर्शन** 23—35

प्राचीन भारत का शिक्षा—दर्शन, पाश्चात्य शिक्षा—दर्शन, भारतीय एवं पाश्चात्य शिक्षा—दर्शन में मौलिक भेद।

3. **भारतीय शिक्षा के दार्शनिक आधार** 36—43

कर्मवाद एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त, जीवन का लक्ष्य, धर्म, ईश्वरोपासना के सभी मार्ग सत्य, धर्मानुसार अर्थ और काम, वसुधैव कुटुम्बकम्।

4. **मनोविज्ञान और शिक्षा** 44—49

पाश्चात्य मनोविज्ञान, भारतीय मनोविज्ञान।

5. **शिक्षा के भारतीय मनोवैज्ञानिक आधार** 50—78

मनुष्य की मूल प्रकृति आध्यात्मिक; समस्त ज्ञान मनुष्य के अन्तर में; अन्तःकरण चतुष्टय—मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त; ज्ञान प्राप्ति के मार्ग—प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुमान ज्ञान, शब्द ज्ञान, अन्तर्ज्ञान; एकाग्रता; ब्रह्मचर्य; संस्कार—सिद्धान्त; व्यक्तित्व— पंचकोश, सात्विक, राजसिक, तामसिक व्यक्तित्व, दैवी और आसुरी सम्पदा, चतुर्विध व्यक्तित्व; योग—विज्ञान — अष्टांग योग, नाड़ी—मण्डल, चक्र एवं कुण्डलिनी शक्ति, मातृका शक्ति, योग एवं शिक्षा।

6. **शिक्षा के उद्देश्य** 79—113

पंचमुखी शिक्षा—शारीरिक शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, मानसिक शिक्षा, नैतिक शिक्षा, आध्यात्मिक शिक्षा।

7. **पाठ्यक्रम—निर्धारण के सिद्धान्त** 114—135

पाठ्यक्रम शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति का माध्यम, पाठ्यक्रम में योग आधार विषय, पाठ्यक्रम छात्रों की पात्रता एवं रुचि के अनुरूप, पाठ्यक्रम समाज एवं राष्ट्र की आवश्यकताओं का पूरक, उत्पादक

कार्यानुभव, शिक्षा का माध्यम मातृभाषा, त्रिभाषा सूत्र, अंग्रेजी एवं अन्य विदेशी भाषाएँ, मानविकी, विज्ञान और गणित, पाठ्यक्रम में गतिशीलता एवं लचक, विषयों में सह–सम्बद्धता, प्रतिभावान छात्रों की शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा, शिक्षा के साथ अर्थोपार्जन, स्त्री–शिक्षा, शिशु–वाटिका, ग्रामीण शिक्षा, वनवासी शिक्षा।

8. शिक्षण के सिद्धान्त एवं पद्धतियाँ **136—162**

शिक्षण संस्कार–प्रक्रिया; ज्ञान अर्जित किया जाता है, दिया नहीं जाता; बालक की प्रकृति के अनुरूप स्वतन्त्रतापूर्वक विकास; ज्ञानेन्द्रियों द्वारा शिक्षण; सच्चे शिक्षण के लिये मन का प्रशिक्षण एवं चित्त की शुद्धि आवश्यक; लक्ष्य ज्ञानार्जन का मूल; जिज्ञासा ज्ञानार्जन का आधार; शिक्षण के सूत्र; शिक्षण–पद्धतियाँ–प्राचीन भारत में प्रयुक्त कुछ आदर्श पद्धतियाँ–पश्चिमी देशों में प्रचलित प्रमुख शिक्षण–पद्धतियाँ–हरबार्टीय पंचपदी, योजना–प्रणाली, इकाई पद्धति, किण्डरगार्टन पद्धति, मोंटेसरी पद्धति, डाल्टन पद्धति, अर्वाचीन भारत में प्रायोगिक शिक्षण–पद्धतियाँ–बुनियादी शिक्षा, शान्ति निकेतन की शिक्षा, गुरुकुल की शिक्षा, श्री अरविन्द अन्तरराष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र, सरस्वती शिशु–मन्दिर; सरस्वती विद्या मन्दिरों की अभिनव पंचपदी शिक्षण–पद्धति; शिक्षण–प्रविधि (शिक्षण तकनीक)।

9. विद्यालय में संस्कारक्षम वातावरण **163—168**

विद्यालय सरस्वती के पवित्र मन्दिर, विद्यालय प्रकृति की गोद में; भवन सरलता, सुन्दरता एवं पवित्रता से युक्त; प्रेम, आत्मीयता और सद्भावना का वातावरण; संगीत एवं कला; प्रार्थनासभा, छात्रों की अनुशासनयुक्त क्रियाशीलता, छात्रों और शिक्षकों का वेश, भारतीयत्व का वायुमण्डल।

10. विद्यालय सामाजिक चेतना के केन्द्र **169—177**

सामाजिक चेतना का अर्थ, समाजीकरण–प्रक्रिया का मूलाधार परिवार, विद्यालय समाज–निर्माण के पवित्रस्थल, अन्तर्निहित शक्तियों का विकास समाज के हित के लिये, विभिन्न विषयों का ज्ञान समाज की समस्याओं के समाधान–हेतु, शिक्षा का सम्बन्ध जीवन से जोड़ना, सामाजिक समस्याओं की अनुभूति, सामाजिक एकात्मा एवं सहजीवन की अनुभूति, सांस्कृतिक पर्वों के आयोजन, स्वदेशी– निष्ठा का जागरण, विद्यालय सामाजिक गतिविधियों के केन्द्र, अभिभावक–

अध्यापक सम्पर्क, शिक्षा सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का सशक्त माध्यम।

11. परिवार और शिक्षा **178—188**

परिवार संस्था का महत्त्व, परिवार संस्थान का सांस्कृतिक रूप, परिवार में बड़ों का व्यवहार, बच्चों को भरपूर स्नेह, घरों में संस्कार—क्षम सज्जा, भोजन—पद्धति पवित्रतापूर्ण एवं संस्कारप्रद, ईश्वर में आस्था एवं आध्यात्मिकता का वातावरण, संस्कारप्रद पत्र—पत्रिकाएँ, सांस्कृतिक पर्वों का शुद्ध रूप में आयोजन, भारतीय वेश—भूषा एवं मातृ—भाषा के प्रति स्वाभिमान, विद्यालय एवं परिवार, आचार्य—अभिभावक सम्पर्क, अभिभावक सम्मेलन, सांस्कृतिक परम्परा की रक्षा।

12. परीक्षा एवं मूल्यांकन **189—193**

परीक्षा—प्रक्रिया, मूल्यांकन का क्षेत्र, स्वमूल्यांकन, मूल्यांकन सर्वांगीण एवं सतत् प्रक्रिया, मूल्यांकन की पद्धति, मूल्यांकन—पद्धति की विशेषताएँ, निष्कर्ष।

13. शिक्षक या आचार्य **194—200**

शिक्षण—प्रक्रिया में शिक्षक का महत्त्वपूर्ण स्थान, स्वयं के आचरण के द्वारा शिक्षा; आचार्य—विद्यार्थियों का हितचिन्तक, पथ—प्रदर्शक एवं मित्र; आचार्य—विद्यार्थी एक आध्यात्मिक सम्बन्ध, आचार्य की विद्वत्ता, शिक्षण—कला में निपुणता, आचार्य का प्रभावशाली व्यक्तित्व, आचार्य राष्ट्र—निर्माता एवं समाज का पथ—प्रदर्शक, वर्तमान में आचार्यों का सम्मान एवं आर्थिक स्तर।

14. शिक्षा में स्वायत्तता **201—205**

प्राचीन भारत में शिक्षा की व्यवस्था, वर्तमान में शिक्षा की स्थिति, सरकारी नियन्त्रण से मुक्त शिक्षा की व्यवस्था हो, न्यायपालिका के समान शिक्षा की स्वतन्त्र व्यवस्था हो, आचार्यों एवं शिक्षाविद्‌ों द्वारा नियमन, प्रबन्ध—समितियों में शैक्षिक क्षेत्र के व्यक्तियों का बहुमत हो, उपसंहार।

1

शिक्षा

शिक्षा जीवन के विकास का पर्याय

शिक्षा मनुष्य–जीवन के परिष्कार एवं विकास की प्रणाली है। जीवन के प्रत्येक अनुभव को शिक्षा कहा जा सकता है। वास्तव में समस्त मानव–जीवन ही शिक्षा है और शिक्षा ही जीवन है। जो कुछ भी व्यवहार मनुष्य के ज्ञान की परिधि को विस्तृत करे, उसकी अन्तदृष्टि को गहरा करे, उसकी प्रतिक्रियाओं का परिष्कार करे, भावनाओं और क्रियाओं को उत्तेजित करे अथवा किसी न किसी रूप में उसको प्रभावित करे वह 'शिक्षा' ही है। शिक्षाशास्त्र में व्यक्तित्व के संतुलित एवं संपूर्ण विकास को शिक्षा का लक्ष्य माना गया है। शिक्षा मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों का सर्वांगीण, अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का विकास है।

शिक्षा का संबंध जितना व्यक्ति से है, उससे अधिक समाज से है। मानव–जीवन में जो कुछ भी अर्जित है वह शिक्षा का ही परिणाम है। व्यक्ति का चरित्र, व्यक्तित्व, संस्कृति, चिन्तन, सूझ–बूझ, कुशलताएँ, आदतें तथा जीवन की छोटी से छोटी बातें शिक्षा पर निर्भर हैं। वास्तव में शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानव–शिशु सब प्रकार से विकसित होकर समाज में उपयुक्त स्थान ग्रहण करता है। शिक्षा के माध्यम से सहस्रों वर्षों से समाज द्वारा अर्जित अनुभव बालक को हस्तान्तरित कर दिये जाते हैं। शिक्षा के माध्यम से ही वह अपनी राष्ट्रीय थाती एवं संस्कृति को ग्रहण करता है। शिक्षा के द्वारा उसका शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास होता है। शिक्षा के द्वारा उसके चरित्र का निर्माण होता है, उसका समाजीकरण होता है और वह मनुष्य की संज्ञा पाने योग्य बनता है।

इस प्रकार शिक्षा के माध्यम से प्रत्येक पीढ़ी के साथ समाज की प्राचीन निधि का संरक्षण, संवर्धन एवं हस्तान्तरण होता रहता है। यदि शिक्षा न हो तो 'समाज' का जन्म ही नहीं हो। समाज–जीवन का प्रवाह शिक्षा के कारण ही गतिशील होकर विकास की ओर अग्रसर होता है। अतः शिक्षा की प्रक्रिया को मूलतः सामाजिक दृष्टिकोण से ही देखना आवश्यक है। भारतीय वाङ्मय में यह ऋषि–ऋण कहा गया है, जिससे उऋण होना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। जब हम भावी सन्तति की

शिक्षा की व्यवस्था करते हैं, उसके विकास का प्रयास करते हैं, तो हम उसके प्रति कोई उपकार नहीं करते, प्रत्युत् हमें जो कुछ धरोहर अपने पूर्वजों से प्राप्त हुई है उसे अगली पीढ़ी को सौंपकर उनके ऋण से उऋण होते हैं। एक विद्वान ने इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है– "हम भूत के ऋण से उऋण हो सकते हैं, यदि हम भविष्य को अपना ऋणी बना दें।"

साधारणतया 'अक्षर–ज्ञान' या पाठ्य–पुस्तक अथवा विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रम के अध्ययन को ही शिक्षा समझा जाता है। किन्तु वास्तव में शिक्षा का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। मानव के ज्ञान का बहुत ही थोड़ा अंश भाषा के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और उसमें से भी बहुत थोड़ा अंश लिपिबद्ध। अतः लिपि ज्ञान अथवा भाषा–ज्ञान से शिक्षा का पूर्ण उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। शिक्षण के अन्तर्गत वे सब क्रियाएँ आती हैं जिनके द्वारा कोई भी व्यक्ति या व्यक्तिसमूह अपने पास के ज्ञान को दूसरे को देने का प्रयास करता है। यह प्रयास पाठशालाओं और विश्वविद्यालयों में ही नहीं, अपितु घर–घर में तथा खेत, खलिहान, कारखानों, दुकानों, कला–भवनों, खेल के मैदानों और मल्लशालाओं में चलता रहता है। प्राचीन काल में कथा और कीर्तन एवं आधुनिक काल में रेडियो, सिनेमा, समाचार पत्र आदि भी इस शिक्षण–प्रक्रिया की सीमा में आते हैं। इस प्रकार मनुष्य का शिक्षण केवल विद्यार्थी जीवनकाल तक ही सीमित नहीं होता, अपितु जीवन–भर चलता रहता है। वास्तव में "समस्त मानव–जीवन शिक्षा है और शिक्षा ही जीवन है।" कभी–कभी हम विद्यालयों में औपचारिक शिक्षा प्राप्त न करने वाले अथवा असाक्षर व्यक्ति को अशिक्षित समझते हैं, जोकि अनुचित है। प्रायः देखा जाता है कि औपचारिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति अमानवीय व्यवहार करता है और निरक्षर व्यक्ति व्यवहार, भावना एवं ज्ञान में उससे कहीं अधिक श्रेष्ठ होता है। **इसका अर्थ यह है कि शिक्षा अक्षर–ज्ञान तक सीमित नहीं है।**

उपर्युक्त विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि औपचारिक शिक्षा के लिए शिक्षा–संस्थाओं की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में शिक्षा–संस्थाओं की राष्ट्र जीवन के लिए एवं उसके विकास के लिए परम आवश्यकता है। **जिस देश में 'शिक्षा' की व्यवस्था जितनी व्यापक और गहरी होगी, राष्ट्र जीवन उतना ही अधिक पुष्ट और गंभीर होगा।** नई पीढ़ी के जितने अधिक लोगों को और जितनी अधिक मात्रा में पिछली ज्ञान–निधि प्राप्त होगी, उसी पूँजी को लेकर वह जीवन के कार्य–क्षेत्र में उतरेगी। इस पीढ़ी से यह भी स्वाभाविक अपेक्षा है कि प्राप्त पूँजी में अपने प्रयत्न और अनुभव के आधार पर वृद्धि करे। इस प्रकार वह पूँजी बराबर बढ़ती जायेगी। इसके लिए यह आवश्यक है कि इस आदान–प्रदान की प्रक्रिया में कम से कम छीजन हो। साथ ही उस ज्ञान और अनुभव के अनावश्यक

अंगों का परित्याग और उपयोगी तत्त्व का संरक्षण बड़े मनोयोग से करना होगा। **उस ज्ञान–परंपरा का विनियोग राष्ट्र की आवश्यकताओं एवं देश, काल, परिस्थिति के अनुसार करने की प्रविधि (टेक्नीक) भी विकसित करनी होती है। इसके लिए अनुसंधान, चिंतन एवं प्रयोग करने हेतु व्यक्तिगत एवं संस्थागत प्रयास करने होते हैं।** ऐसे लोगों की आवश्यकता हो जाती है जो इस ज्ञान–परंपरा को आत्मसात करके सुबोध बना सकें। ऐसे लोगों को ही शिक्षक एवं आचार्य कहा जाता है तथा **इसके संगठित प्रयास के लिए शिक्षण–संस्था – विद्यालयों की आवश्यकता होती है।**

शिक्षा एक संस्कार–प्रक्रिया है। मनुष्य अनजाने में ही अपने चारों ओर के समाज से संस्कार ग्रहण करता रहता है। उसमें समाज का प्रत्येक व्यक्ति 'शिक्षक' का काम करता है। 'संस्कार' यद्यपि दोनों ओर से चलने वाली प्रक्रिया है, तथापि मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार अनुकरण, संवेदना एवं सुझावात्मक प्रवृत्तियों के कारण समर्थ व्यक्ति की क्रियाएँ ही प्रभावी होती हैं। माता–पिता, परिजन, पुरजन, गुरुजन, अग्रपाठी, सहपाठी, समाज के नेता, अधिष्ठाता, ये सभी नवीन पीढ़ी पर विभिन्न प्रकार के संस्कार डालते रहते हैं। अतः इन सब अग्रजनों को यह विचार करना चाहिए कि उनकी क्रियाओं का परिणाम केवल उनपर ही नहीं बल्कि दूसरों पर, विशेष रूप से नयी पीढ़ी पर, पड़ता है। शिक्षा संस्थायें अकेले ही मनुष्य का निर्माण नहीं करतीं। संस्कार का बहुत सा क्षेत्र शिक्षा संस्थाओं के क्षेत्र से बाहर है। इसलिए शिक्षा संस्था एवं बाहर का वातावरण, दोनों संस्कारक्षम चाहिए, तभी बालक का संतुलित विकास संभव है। यदि इन दोनों क्षेत्रों में विरोध रहा तो विद्यार्थी के जीवन में एक अन्तर्द्वन्द्व खड़ा हो जाता है। एक समन्वित, एकीकृत, सर्वांगपूर्ण, अखण्ड व्यक्तित्व का विकास होने के स्थान पर उसकी प्रकृति में विभक्त निष्ठाओं का समावेश हो जाता है। समाज और उसके बीच एक खाई पड़ जाती है। अतः व्यक्ति एवं समाज के समुचित विकास के लिए शिक्षा–संस्थाओं एवं बाहर के परिवेश में संस्कारों की दृष्टि से सामंजस्य आवश्यक होता है।

भारतीय संस्कृति में शिक्षा को पवित्रतम प्रक्रिया माना गया है। गीता में श्रीकृष्ण ने ज्ञान को पवित्रतम घोषित किया है– "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" महाभारत में कहा गया है– "नास्ति विद्यासमं चक्षुः" अर्थात् विद्या के समान कोई दूसरा नेत्र नहीं होता। भारतीय दर्शन में अज्ञान को अंधकार और ज्ञान को प्रकाश माना गया है। शिक्षा एक प्रकाश है। अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाना शिक्षा का प्रमुख कार्य है।

डा. अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने प्राचीन भारतीय शिक्षा के संदर्भ में लिखा है–

"प्राचीन भारत में शिक्षा अन्तर्ज्योति और शक्ति का स्रोत मानी जाती थी। जो शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक शक्तियों के संतुलित विकास से हमारे स्वभाव में परिवर्तन करती तथा उसे श्रेष्ठ बनाती है। इस प्रकार शिक्षा हमें इस योग्य बनाती है कि हम समाज में एक विनीत और उपयोगी नागरिक के रूप में रह सकें। यह अप्रत्यक्ष रूप में हमें इहलोक और परलोक—दोनों में आत्मिक विकास में सहायता देती है।"[1]

शिक्षा आध्यात्मिक प्रक्रिया

शिक्षा जीवन का विकास है। भारतीय दर्शन के अनुसार जीवन का अधिष्ठान अध्यात्म है। अध्यात्म का संबंध आत्मा से है। आत्मा मनुष्य की सत्ता का अन्तरतम मर्म है। भारतीय चिंतन में आत्मा को मन, बुद्धि, इन्द्रियों एवं अहंकार से परे माना है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि आत्मा की शक्ति से ही प्रेरित होती हैं। आत्मा के प्रकाश से ही वे विषयों के अधिगम में समर्थ होती हैं। आत्मा समस्त ज्ञान का आधार है। शिक्षा मुख्यतः ज्ञान की साधना है। ज्ञान चेतना का विकास है। इस प्रकार शिक्षा चेतना का ही संवर्धन है। हमारे धर्म ग्रन्थों में कहा गया है कि विद्या श्रद्धा के द्वारा ही प्राप्त होती है। गीता में भी कहा गया है— "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्"। श्रद्धा से ही ज्ञान प्राप्त होता है। प्रेम, आदर एवं विश्वास के सम्मिलित भाव को ही श्रद्धा कहते हैं। ज्ञान चेतना का विस्तार होने के कारण श्रद्धा से इस विस्तार में अनुकूलता उत्पन्न होती है। श्रद्धा का विपरीत भाव अहंकार है। अहंकार से चेतना का संकोच होता है जो कि ज्ञान प्राप्त करने में बाधक है। भारतीय परंपरा में सरस्वती को विद्या की देवी का रूप देकर इस श्रद्धा के भाव को आध्यात्मिक रूप दे दिया है। सरस्वती का भव्य रूप कला सहित विद्या का साकार रूप ही है। सरस्वती को हमने माँ का स्थान दिया है। जिस प्रकार माँ अपने हृदय के रस से बालक का पोषण करती है। माँ सरस्वती विद्या एवं ज्ञान से हमारा पोषण करती है। हम भी श्रद्धा के पवित्रतम मातृभाव से उसकी आराधना करते हैं।

विद्या के अर्जन में गुरु अर्थात् शिक्षक का महत्त्व कम नहीं है। गुरु के सहयोग से ही बालक विद्या के मार्ग में आगे बढ़ता है। गुरु का सहयोग श्रद्धा और सेवा के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। श्रद्धा एवं सेवा से प्रसन्न होकर ही गुरु शिष्य को विद्या दान करने की ओर अभिमुख होता है। वास्तव में विद्या गुरु की ओर से शिष्य के प्रति आत्मदान है जो कि एक आध्यात्मिक प्रक्रिया ही है। **विद्या का व्यवसाय नहीं हो सकता। व्यवसाय से प्रेरित विद्या साधारण कोटि की ही होगी।** शास्त्रों, कलाओं और दर्शनों आदि की उत्तम विद्या धन से प्राप्त नहीं हो सकती।

---

1. डॉ. अनन्त सदाशिव अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ 6

इसलिए कोई भी धनवान केवल धन के बल से न विद्यावान बन सका और न बन सकेगा।

विद्या बौद्धिक साधना है। राग, द्वेष, क्रोध, अहंकार आदि मन के विकारों से बुद्धि आच्छादित हो जाती है, अर्थात् ज्ञान–शक्ति का नाश हो जाता है। गीता में कहा है–

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। (2/63)

क्रोध से अविवेक उत्पन्न होता है और अविवेक से स्मरण शक्ति भ्रमित हो जाती है। स्मृति के भ्रमित होने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान शक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश होने से व्यक्ति अपने श्रेय साधन से गिर जाता है।

विद्या की साधना की सफलता हेतु मन को इन विकारों से बचाये रखना परम आवश्यक है। इसीलिये प्राचीन भारतीय शिक्षा में ब्रह्मचर्य की महिमा थी। **ब्रह्मचर्य कोई प्राचीन रूढ़ि नहीं है। वह संयम और साधना का सनातन मंत्र है।** संयम और साधना की पीठिका पर ही ज्ञान की साधना होती है। ये सब अध्यात्म की अभिव्यक्ति के रूप हैं। इसी अध्यात्म के द्वारा उत्तम शिक्षा एवं श्रेष्ठ प्रतिभा का विकास संभव है। शिक्षा, विद्या, साहित्य, विज्ञान, कला आदि के क्षेत्रों में जिन महान पुरुषों ने कुछ श्रेष्ठ उपलब्धियाँ की हैं, उनको यह सफलता इसी साधना के आधार पर मिली है।

शिक्षा संस्कृति की प्रणाली

आजकल विद्यालयों में संगीत, नृत्य, अभिनय आदि के कार्यक्रम होते हैं जिन्हें 'सांस्कृतिक कार्यक्रम' कहा जाता है। इन आयोजनों और समारोहों में कला के कुछ रूपों को ही संस्कृति का सर्वस्व मान लिया जाता है। कला संस्कृति का एक अंग अवश्य है, परंतु वह संस्कृति का सर्वस्व नहीं है। प्रायः ये कार्यक्रम मनोरंजन के लिए ही आयोजित किये जाते हैं। इन्हें मनोरंजन कार्यक्रम कहना ही अधिक उपयुक्त है। परंतु पश्चिम के विचारों के प्रभाव के कारण ही इन्हें 'सांस्कृतिक' कहा जाने लगा है। पश्चिम में जिसे संस्कृति कहा जाता है वह मुख्यतः प्रकृति का ही पोषण है। इसके पीछे प्रकृति के अनुरंजन की ही सहज प्रेरणा होती है। संयम और साधना के द्वारा प्रकृति का परिष्कार और उन्नयन संस्कृति कहलाती है। भारतीय संस्कृति की यही मूल धारणा है। प्रकृति के परिष्कृत आधार पर ही संस्कृति का निर्माण होता है। वस्तुतः संस्कृति एक आध्यात्मिक साधना है। नैतिक शील और संस्कारों में अभिव्यक्त होकर अध्यात्म की मर्यादायें प्रकृति का उन्नयन और संस्कृति का पथ–प्रदर्शन

करती हैं। इसलिये संयम, शील और चरित्र का भारतीय संस्कृति में अधिक महत्त्व है। भारतीय शिक्षा में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

वास्तव में, **"ज्ञान, चरित्र एवं संस्कृति की त्रिवेणी के संगम में ही शिक्षा जीवन का तीर्थराज बनती है।"** ज्ञान के अर्जन को शिक्षा माना जाता है। ज्ञान जीवन के विकास का साधन है, तथा जीवन का लक्ष्य भी है। ज्ञान का उद्देश्य सत्य की खोज है। ज्ञान के प्रकाश से ही जीवन के विविध पक्ष विकसित होते हैं। किन्तु अकेले सत्य ही जीवन का सर्वस्व नहीं है। 'शिवम्' एवं 'सुंदरम्' का भी जीवन में स्थान है। संस्कृति 'सत्यम्', 'शिवम्' एवं 'सुंदरम्' पर आधिष्ठित है। अतः संस्कृति संपूर्ण जीवन का परिष्कार एवं निर्माण है और ज्ञान के उपार्जन तथा सत्य के अनुसंधान के रूप में शिक्षा संस्कृति का केवल एक अंग है। किन्तु शिक्षा को केवल बौद्धिक ज्ञान का अर्जन न मानकर जीवन–निर्माण के व्यापक रूप में समझा जाना चाहिए। शिक्षा और संस्कार के द्वारा मनुष्य का जीवन विकसित होता है। इसी विकास को सभ्यता और संस्कृति नाम दिया जाता है। व्यक्ति और समाज दोनों का जीवन इस विकास के द्वारा समृद्ध होता है। शिक्षा प्राकृत मानव को सभ्य और संस्कृत बनाती। शिक्षा आध्यात्मिक संस्कार की एक सामाजिक परंपरा है। इस प्रकार शिक्षा संस्कृति की एक प्रणाली है।

2

शिक्षा और दर्शन

भारतीय व्याख्या के अनुसार, "दृश्यते यथार्थतत्त्वमनेन"–जिसके द्वारा यथार्थ तत्त्व का या स्वरूप का ज्ञान होता है, उसे दर्शन कहते हैं। जॉन ड्यूई ने दर्शन की व्याख्या करते हुए कहा है कि "जब जान–बूझकर नियमित ढंग से किसी विषय के सब पक्षों के संबंध में सचेतन की समीक्षात्मक प्रक्रिया होती है, वही दर्शन है।" विश्व में जितनी भी मानव–प्रवृत्तियाँ हैं उनका आधार कोई–न–कोई दार्शनिक सिद्धांत है। जिस सार्वभौम सैद्धान्तिक आधार पर किसी कार्य के उद्देश्य, पद्धति, प्रणाली, कार्यक्रम आदि का संयोजन होता है, उस आधार को ही दर्शन कहा जाता है। वास्तव में जीवन के चिन्तन–पक्ष को दर्शन कहते हैं।

जिस प्रकार मानव जीवन का दार्शनिक पक्ष होता है, उसी प्रकार शिक्षा का भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण दार्शनिक आधार है और उन्हीं दार्शनिक आधारों पर विभिन्न देशों में शिक्षा के उद्देश्य, उसकी पद्धति और उसके संघटन की व्यवस्था की गई है। फिख्टे और ड्यूई के दार्शनिक पक्ष का समन्वय करते हुए रौस ने कहा है कि "दर्शन और शिक्षा में अंतर नहीं है। वे एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं। सभी वस्तुओं का तर्कपूर्ण, विधिपूर्वक, सुनियोजित ढंग से निरंतर विचार करने को दर्शन कहते हैं। अतः शिक्षा पर भी तर्कपूर्ण, विधिपूर्वक, सुनियोजित ढंग से विचार करने हेतु शिक्षा का भी दर्शन आवश्यक होता है।" ऐडम्स के अनुसार, "शिक्षा तो दर्शनशास्त्र का गत्यात्मक पक्ष है, इसलिये प्रत्येक दार्शनिक विचार के अनुसार शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन भी आवश्यक है।"

कुछ लोगों का यह मत है कि प्रत्येक शिक्षक का स्वभावतः अपना विशिष्ट शिक्षा दर्शन होता है। शिक्षा प्रक्रिया के सामान्य ज्ञान के अतिरिक्त उसे किसी शिक्षा दर्शन की आवश्यकता नहीं है। परंतु इस सामान्य ज्ञान के ही आधार पर शिक्षक शिक्षा क्षेत्र की मूलभूत समस्याओं को हल करने में समर्थ नहीं हो सकता। जो दर्शन स्वभावतः प्रत्येक शिक्षक के मस्तिष्क में विकसित होता है वह सच्चा शिक्षा दर्शन नहीं होता, क्योंकि वह समन्वयात्मक एवं समीक्षात्मक नहीं होता। दूसरी बात यह भी है कि शिक्षा दर्शन समाज के सामूहिक जीवन के अनुभवों एवं आदर्शों पर आधारित होता है। अतः शिक्षक का व्यक्तिगत शिक्षा–दर्शन मूलभूत समस्याओं को हल नहीं कर सकेगा।

प्रत्येक राष्ट्र का अपना जीवन–दर्शन होता है। यह जीवन–दर्शन ही उस

राष्ट्र–समाज के व्यक्तियों में समान जीवन–लक्ष्य एवं आदर्शों का निर्माण करता है तथा उन जीवनादर्शों को प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। राष्ट्र के जीवन दर्शन पर आधारित प्रत्येक देश का अपना शिक्षा का दर्शन होता है। यही कारण है कि दार्शनिक सिद्धान्तों की विभिन्नताओं के कारण शिक्षा की समस्याओं के संबंध में दृष्टिकोणों में भी भिन्नता पायी जाती है। अन्तरराष्ट्रीय शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन में कहा गया है कि "प्रत्येक देश में शिक्षा–व्यवस्था वहां की राष्ट्रीय चेतना, संस्कृति एवं परंपराओं की सर्वोच्च अभिव्यक्ति होती है। क्योंकि कोई एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के समान नहीं होता, अतः शिक्षा की समस्याओं की व्याख्याएँ भी उतनी ही मिलती हैं जितने विश्व में देश हैं।"[1]

इसी कारण इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमेरिका और रूस के शिक्षा–दर्शनों की पुस्तकों में विचित्र तथ्य देखने को मिलते हैं कि शिक्षा–समस्या की परिभाषाओं में लगभग एक ही जैसे शब्दों का एवं एक ही जैसी भाषा का प्रयोग किया गया है, परंतु उनके अर्थ पूर्णतः भिन्न और परस्पर विरोधी पाये जाते हैं। सभी शिक्षा–शास्त्री संपूर्ण शिक्षा प्रक्रिया का केन्द्र शिक्षार्थी को मानते हैं। किन्तु पश्चिम के भौतिकवादी शिक्षार्थी को ढलनशील स्नायविक तत्त्व मानकर उसे भौतिक वातावरण की अन्तः प्रक्रिया में वैज्ञानिकतापूर्ण प्रकृति के आधार पर ढालना चाहते हैं। उधर आदर्शवादी लोग उसी शिक्षार्थी को पूर्णतः दैवी तत्त्व मानते हैं, जिसे इस बात की आवश्यकता है कि वह समस्त भौतिक एवं सांसारिक दासता से अपने को मुक्त कर ले। अमेरिका के प्रयोजनवादी उसी शिक्षार्थी को ऐसी अस्थायी और परिवर्तनशील प्रकृति की सामाजिक अवस्था मानते हैं जिसे इस प्रकार विकसित किया जाय कि वह वर्तमान जीवन में उपयोगी सिद्ध हो सके। प्रजातंत्रवादी देशों की संपूर्ण जीवन रचना व्यक्ति स्वातंत्र्य पर खड़ी है। वैयक्तिक सम्पत्ति, समान मताधिकार, वैयक्तिक स्वातंत्र्य उसी जीवन दर्शन के आधार हैं। बाल–केन्द्रित शिक्षा इसी की देन है। रूसो ने कहा है कि "प्रत्येक बालक जन्म के समय निर्विकार होता है, समाज का संपर्क उसे दूषित बनाता है।" परिणामतः व्यक्ति को समाज की तुलना में अधिक महत्त्व प्रदान करते हुए इन देशों में शिक्षा–रचना में आमूल–चूल परिवर्तन किये गये। दूसरी ओर, पश्चिम के साम्यवादी देशों में इसके विपरीत शिक्षा का स्वरूप विकसित हुआ। वहाँ समाज–केन्द्रित जीवन–रचना में व्यक्ति गौण है। व्यक्ति–स्वातंत्र्य की भावना को

---

1. "Educational systems are the highest expression of each people's national consciousness, culture and traditions. Since no one nation is identical to another, there are as many definitions of educational problems as there are countries in the world."
('Learning To Be'–The Report of the International Commission on the Development of Education, 1971)

वहाँ विकृत अवस्था माना जाता है। बालक की रुचि, स्वभाव, जन्मजात गुण संपदा का उसकी शिक्षा में महत्त्व नगण्य है। वहां समाज की आवश्यकतानुसार बालक के विकास की दिशा का निर्धारण होता है।

सारांश यह है कि विश्व के सभी देशों में शिक्षा का दर्शन वहाँ के जीवन दर्शन का प्रतिबिंब होता है। अतः भारतीय शिक्षा के दर्शन के संबंध में विचार करते समय हमें भारतीय जीवन दर्शन के उन तत्त्वों को स्पष्ट करना होगा, जो इस सनातन राष्ट्र–जीवन को एकसूत्रबद्ध किये हुए हैं। दुर्भाग्यवश आज भारतवर्ष में शिक्षा का विचार होते समय इस तथ्य की घोर उपेक्षा की जाती है। **स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् से लेकर आज तक भारतीय शिक्षा का दर्शन निश्चित नहीं हो सका।** उसका मूल कारण यह है कि यहाँ के राजनेताओं ने यहाँ के सनातन राष्ट्रीय जीवन दर्शन की उपेक्षा की, किन्तु वे नवीन जीवन दर्शन प्रस्थापित नहीं कर सके। आज भारत के समाज–जीवन में शून्यता दिखाई दे रही है। इस समय देश की स्थिति को देखकर एवं राजनायकों की चिंतन–प्रक्रिया को दृष्टिगत रखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो भारतवर्ष का अपना कोई निश्चित जीवन–दर्शन ही नहीं है। हम समाजवाद का नारा लगाते हैं। साथ ही लोकतंत्र में आस्था व्यक्त करते हैं। एक ओर देश की आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्रीयकरण (वास्तव में सरकारीकरण) की ओर बढ़ रहे हैं, दूसरी ओर व्यक्तिगत स्वातंत्र्य में विश्वास प्रकट करते हैं। **हम प्राचीन भारतीय संस्कृति की प्रशंसा करते हुए थकते नहीं हैं, परंतु व्यवहार में प्रगति के नाम पर घोर भौतिकवादी नीतियाँ अपनाते जा रहे हैं। इस सिद्धांतहीन राजनीति ने देश को आस्थाहीन बनाकर घोर विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है।**

इसी के परिणामस्वरूप भारतीय शिक्षा भी दिशाहीन है। **यहाँ के शिक्षाशास्त्री, जिनके हाथों में शिक्षा की आज बागडोर है, समस्याओं के समाधान हेतु भारत के बाहर के देशों की ओर देखते हैं। कार्यानुभव का विषय हो, अथवा बहु–उद्देश्यीय विद्यालय योजना या पड़ोसी विद्यालय (कॉमन स्कूल्स) की कल्पना हो, इन्होंने रूस, ब्रिटेन एवं अमेरिका का अनुकरण मात्र किया है। यहाँ के समाज की प्रकृति एवं संस्कृति का इन शिक्षाशास्त्रियों ने कोई विचार ही नहीं किया। उसी का परिणाम है कि आज का तथाकथित शिक्षार्थी एवं शिक्षक दिशाहीन एवं बिना पतवार की नौका के समान भटकते हुए दिखाई दे रहे हैं।** भारतीय शिक्षा–दर्शन की आवश्यकता पर बल देते हुए, डा. सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता में भारत सरकार द्वारा नियुक्त 'भावात्मक एकता समिति' के प्रतिवेदन में कहा गया है : "भारतीय शिक्षा दर्शन के अध्ययन की इतनी उपेक्षा हुई है कि अनेक लोग इसके नाम तक से

अपरिचित हैं। सरकार ने तो इसकी आवश्यकता ही आज तक अनुभव नहीं की और न इस विषय पर अपना अभिमत ही स्पष्ट किया है। जहाँ तक हमें ज्ञात है, केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारों द्वारा नियुक्त किसी शिक्षा आयोग अथवा समितियों में से केवल विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने इस विषय का उल्लेखनीय सन्दर्भ दिया है। प्रतिवेदन में कहा गया है कि शिक्षा दर्शन उन दार्शनिक मान्यताओं का योग है जो शिक्षार्थी के पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करने में शिक्षण को प्रभावी बनाते हें। अन्यथा शिक्षार्थी विद्यालय अथवा कॉलेज छोड़ने के पश्चात् जीवन सागर में बिना पतवार की नौका के समान शिक्षा का भार ढोता हुआ अपने को पायेगा।"[1]

यह सत्य है कि विदेशी शासन काल में तथा स्वाधीन भारत में शिक्षा दर्शन की उपेक्षा की गयी है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि भारतीय राष्ट्र जीवन में शिक्षा दर्शन पर पहले कभी विचार ही नहीं हुआ। तथ्यों के आधार पर विद्वानों का यह मत है कि **जीवन के विभिन्न पक्षों पर, विशेष रूप से शिक्षा पर, जितना गहन एवं सूक्ष्म चिंतन इस देश में हुआ है उतना विश्व के किसी देश में नहीं हुआ। प्राचीन वाङ्मय में यह शिक्षा दर्शन भरा पड़ा है।** इसी शिक्षा–दर्शन के आधार पर देशभर में शिक्षा संस्थाओं एवं विद्यापीठों का विकास हुआ। गुरुकुल आश्रम, ऋषिकुल, आचार्य–कुल तथा नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमशिला आदि विश्वविद्यालयों के नाम शिक्षा के इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में अंकित हैं। इनकी शिक्षा–व्यवस्था एवं शिक्षा–पद्धति आधुनिक शोधकर्ताओं के लिए आश्चर्य के विषय बने हुए हैं। प्रायः सभी शिक्षाशास्त्रियों का मत है **कि प्राचीन भारत के शिक्षा दर्शन के शाश्वत सिद्धान्त अर्वाचीन भारत की शिक्षा के लिए भी उतने ही सार्थक हैं।**

---

1. "The study of the philosophy of education has been so badly neglected in the past that many persons are unfamiliar even with the name. The Government has not so far apparently felt the necessity of defining its attitude in the matter and so far as we are aware of all the Commissions and Committees appointed by the Central or State Governments, only the University Education Commission has made a worth reference to it..... The philosophy of education is, therefore, only another name for the sum total of those philosophical assumptions which must be made if teaching is to be effective in developing the full personality of the pupil. Otherwise he will leave school and college with a heavy load of learning to find himself rudderless in the ocean of life." pp. 27-30 : Report of the Committee on Emotional Integration, Ministry of Education, Government of India (1962).

प्राचीन भारत का शिक्षा–दर्शन

प्राचीन भारत का शिक्षा–दर्शन आदर्शवादी शिक्षा–दर्शन माना जाता है। किन्तु आदर्शवाद के सिद्धान्त का जो स्वरूप यूरोप में प्रचलित हुआ उससे भारतीय आदर्शवाद का सिद्धान्त पूर्णतः भिन्न है। भारतीय शिक्षा का आदर्शवाद छात्र को केवल किसी विशेष सिद्धांत के अनुसार शिक्षा देना मात्र ही पर्याप्त नहीं समझता था, अपितु वह संस्कारों के माध्यम से आदर्श के अनुरूप जीवन गठन की व्यवस्था थी। भारतीय जीवन का सनातन आदर्श आध्यात्मिकता है। छात्र ब्रह्मचर्य आश्रम गुरुकुल में रहकर पूर्ण करता था। उसके पूर्ण जीवन–शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा का विकास संस्कारों की पद्धति से होता था। उपनयन संस्कार के साथ छात्र गुरुकुल आश्रम में प्रवेश करता था। **इन गुरुकुलों का जीवन तथा गुरु और शिष्यों का सम्बन्ध इतना उदात्त और आदर्श था कि उस जीवन–पद्धति में पलने वाले सभी छात्र अत्यंत तेजस्वी, विद्यावान और चरित्रवान होते थे।**

ब्रह्मचर्य आश्रम तपस्यापूर्ण जीवन होता था। उन्हें प्रारंभ से ही पवित्रता, आचार, अग्नि–कार्य और सन्ध्योपासना की शिक्षा दी जाती थी। वे शिष्य थोड़े से वस्त्र पहनकर, जितेन्द्रिय होकर विद्या प्राप्त करते थे। जो ब्रह्मचारी समावर्तन तक अग्नि की सेवा, भिक्षाचारण, पृथ्वी पर शयन, गुरु की सेवा और उनका हित करता था, वही श्रेष्ठ ब्रह्मचारी माना जाता था। राजा के पुत्र से लेकर निर्धन परिवार तक के सभी ब्रह्मचारी छात्र भिक्षाटन के लिए नित्य जाते थे। गृहिणी मातायें उन ब्रह्मचारियों की प्रतीक्षा करती थीं। और पुत्रवत् स्नेह एवं आदरपूर्वक उन्हें भिक्षा प्रदान करती थीं, क्योंकि उस समय उनके हृदय में यह भाव उमड़ता था कि हमारा पुत्र भी इसी प्रकार किसी अन्य गृहिणी माता से भिक्षा की याचना कर रहा होगा। ब्रह्मचारी का बड़ा सम्मान किया जाता था। यह एक सामान्य शिष्टाचार था कि यदि राजा और स्नातक छात्र, दोनों आमने–सामने चले आ रहे हों तो राजा ही हटकर स्नातक ब्रह्मचारी को मार्ग देता था। स्नातक होने पर गुरु की आज्ञा से गुरुकुल आश्रम छोड़ते थे और जाते समय गुरु–दक्षिणा भेंट करते थे।

पराविद्या (ब्रह्मविद्या) और अपरा विद्या (लौकिक विद्या), दोनों विषयों का ज्ञान प्राप्त कर, शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा के विकास से परिपूर्ण हो भावी जीवन के लिए पूर्ण सिद्ध होकर, स्नातक समाज के सुयोग्य नागरिक के रूप में राष्ट्र–जीवन को समुन्नत करने का व्रत लेकर गुरुकुल आश्रम 25 वर्ष की आयु पूर्ण करके छोड़ते थे और गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। गुरुकुल में जो छात्र 24 वर्ष तक अध्ययन करते थे उन्हें 'वसु', जो 36 वर्ष तक अध्ययन करते थे उन्हें 'रुद्र' तथा जो 48 वर्ष की आयु तक अध्ययन करते थे उन्हें 'आदित्य' कहा जाता था। श्री ए.एस. अल्तेकर

ने प्राचीन भारतीय शिक्षा के विषय में लिखा है– "ईश्वर भक्ति, धार्मिक भावना, चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक एवं सामाजिक कर्त्तव्य का पालन, सामाजिक कुशलता की उन्नति तथा राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रसार प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्य थे।"

प्राचीन भारतीय शिक्षा का प्रधान लक्ष्य छात्रों को परम तत्त्व का ज्ञान कराना था। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में वे पीछे थे। तक्षशिला विश्वविद्यालय में वेद–वेदांगों के पाठ्यक्रमों के अतिरिक्त चिकित्सा एवं शल्य–क्रिया विज्ञान, नक्षत्र विद्या, ज्योतिष, कृषि विज्ञान, गणित, धनुर्विद्या आदि विषयों की शिक्षा की व्यवस्था थी। नालन्दा विश्वविद्यालय में भी 1000 आचार्य, 9000 छात्रों को सभी प्रकार के ज्ञान–विज्ञान की शिक्षा प्रदान करते थे। इसी प्रकार काठियावाड़ में वल्लभी, दक्षिणा में कांची, बिहार में विक्रमशिला और ओदन्तपुरी, बंगाल में नदिया विश्वविद्यालय ज्ञान–विज्ञान के केन्द्र थे। **प्राचीन भारत में अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हुए।** यहां गणित विद्या एवं यंत्र विद्या की नींव डाली गयी, भूमि का माप किया गया, वर्ष के विभाग किये गये, आकाश के मानचित्र तैयार किये गये, सूर्य एवं अन्यान्य ग्रहों के राशिमण्डलीय परिधि के भीतर घूमने के मार्ग का परिशीलन किया गया, प्रकृति की रचना का विश्लेषण किया गया और पक्षियों, पशुओं, पेड़–पौधों एवं बीजों आदि का अध्ययन किया गया। कोपर्निकस से कम से कम 2000 वर्ष पूर्व भारतीय वैज्ञानिकों ने पृथ्वी द्वारा अपनी धुरी पर चक्कर लगाने और रात–दिन होने के कारण का ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

छान्दोग्य उपनिषद् में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है : "सूर्य न तो कभी अस्त होता है और न कभी उदय। जब लोग सोचते हैं कि सूर्य अस्त हो रहा है, तब वह केवल परिवर्तन में आता है। दिन के अन्त में नीचे के भाग में रात हो जाती है और दूसरी ओर दिन हो जाता है। फिर जब लोग सोचते हैं कि सूर्य उदित हो रहा है, तब वह केवल रात्रि के अन्त में पहुँचकर फिर एक परिवर्तन आ रहा होता है और नीचे के भाग में दिन और दूसरे भाग में रात कर देता है। वस्तुतः सूर्य कभी अस्त नहीं होता।"[1] "प्राचीन भारत में चन्द्रमा और सूर्य की गतियों का बहुत सूक्ष्म अध्ययन किया गया था। बीजगणित का आविष्कार हिन्दुओं ने किया और उसका प्रयोग ज्योतिष शास्त्र एवं ज्यामिति में भी हुआ। अरबवासियों ने भी बीज–गणित के विश्लेषक विचारों को और उन अमूल्य अंक संबंधी चिह्नों और दशमलव के विचारों को, जिनका आज यूरोप में सर्वत्र प्रचलन है और जिनके कारण गणित विद्या ने अद्भुत उन्नति की है, भारतवासियों से ग्रहण किया।"[2]

---

1. छान्दोग्य उपनिषद् 3–11 : 1–3
2. मोनियर विलियम्स–'इंडियन्स विज्डम', पृ. 184

"इसी देश ने अति प्राचीनकाल में तर्कशास्त्र एवं व्याकरण को जन्म दिया और उनका विकास किया।"[1] **वह प्राचीन भारत की शिक्षा का ही परिणाम था कि भारतवासियों ने भौतिक विज्ञान के अतिरिक्त कलाओं–ललित एवं औद्योगिक कलाओं का विकास किया। उनके जहाज समुद्र पार करते थे तथा व्यापार अरब, मिस्र और रोम तक फैला हुआ था।**

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है **कि प्राचीन भारत में शिक्षा केवल अध्यात्म विज्ञान तक सीमित नहीं थी। उसका क्षेत्र व्यापक था। अपनी उत्तम शिक्षा–व्यवस्था के कारण ही प्राचीन भारत भौतिक विज्ञानों, कलाओं एवं औद्योगिक क्षेत्र में विश्व में अग्रणी देश माना जाता था; वह विश्वगुरु के पद पर आसीन था।**

पाश्चात्य शिक्षा–दर्शन

आदर्शवादी शिक्षा–दर्शन

पश्चिम में शिक्षा–क्षेत्र में आदर्शवाद सुकरात और प्लेटो के विचारों में अधिक झलकता है। पेस्तालाजी और फ्रोवेल ने भी शिक्षा में आदर्शवादी दृष्टिकोण उपस्थित किया है। आदर्शवादियों के अनुसार मानव ईश्वर की सबसे अधिक महान और सुंदर कृति है, इसलिये शिक्षा का लक्ष्य मानव–व्यक्तित्व का विकास है। इसके लिये उन विशिष्ट विषयों के शिक्षण पर अधिक बल दिया जाना चाहिए जो मानव–सुलभ हैं, जैसे – साहित्य, संगीत, कला, धर्म, आचारशास्त्र इत्यादि। शिक्षा का लक्ष्य आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत को पीढ़ी दर पीढ़ी बनाये रखना है। अन्य आदर्शवादियों ने शिक्षा के लक्ष्य को आत्मबोध अथवा आत्म–साक्षात्कार के रूप में प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार प्रत्येक मनुष्य जन्म से ही सुप्तावस्था में दैवी गुणों को लिये हुए रहता है। शिक्षक को इन्हीं का विकास करना है। फ्रोवेल के शब्दों में : "शिक्षा का लक्ष्य एक आस्थामय, शुद्ध, अभंजनीय और इसलिये पवित्र जीवन का साक्षात्कार है। शिक्षा को अपने प्रति और अपने में स्पष्टता की ओर निर्देशित करना चाहिए, जिससे वह प्रकृति का सामना कर सके और ईश्वर से एकता स्थापित कर सके।"

शिक्षा में आदर्शवाद का उदाहरण प्लेटो का शिक्षा–दर्शन है। प्राचीन यूनानी दार्शनिकों में प्लेटो ने शिक्षा–क्षेत्र को सर्वाधिक प्रभावित किया है। प्लेटो द्वारा रचित पुस्तकों में 'द रिपब्लिक' का शिक्षाशास्त्र के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान है। **प्लेटो के**

---

1. मैक्समूलर–'संस्कृत लिटरेचर'।

अनुसार शिक्षा का उद्देश्य सत्य का साक्षात्कार है और वह सत्य एकांगी नहीं, बल्कि सर्वांग है। अतः वह शरीर, मस्तिष्क और आत्मा—सभी के विकास को आवश्यक मानता है।

यूरोप में 16वीं एवं 17वीं शताब्दी में शिक्षा के क्षेत्र में जान एमोस कमेनियस, पेस्तालाजी, हरबर्ट एवं फोवेल के नाम प्रमुख रूप से लिये जाते हैं। आदर्शवादियों ने शिक्षा के लक्ष्य और उद्देश्यों की स्थापना की, उसकी पद्धतियों और विधियों की नहीं। यही कारण है कि उनके विचार केवल आदर्श बनकर रह गये, व्यवहार में दिखाई नहीं दिये। भारतीय दर्शन में पूर्ण मानवता के विकास का लक्ष्य स्थिर किया गया और उसके अनुसार संपूर्ण भारतीय शिक्षा—व्यवस्था स्थापित की गयी। यूरोपीय आदर्शवादियों का इस ओर ध्यान नहीं गया। उनके विचार केवल दर्शनशास्त्र के अध्ययन के विषय मात्र बनकर रह गये। भारतीय शिक्षा के आचार्यों ने आदर्शों को जीवन में प्रस्थापित किया। **नालन्दा विश्वविद्यालय के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसके अस्तित्व के 800 वर्षों के जीवन में एक भी घटना ऐसी नहीं हुई जब किसी छात्र को किसी भी प्रकार के नैतिक अपराध के लिये दण्ड देने की आवश्यकता पड़ी हो।**

प्रकृतिवादी शिक्षा—दर्शन

प्रकृतिवादी दार्शनिक—प्रकृतिवाद का प्रारंभ अति प्राचीनकाल से मानते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि प्रकृतिवाद को महत्त्व अट्ठारहवीं शताब्दी में मिला। इस शताब्दी में आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण क्रान्तियाँ हुईं, जिनसे इन क्षेत्रों में विचारों का रूप मध्यकाल से बिल्कुल बदल गया। इस क्रान्ति का केन्द्र फ्रांस था। यहां पर परम्पराओं और रूढ़िगत संस्थाओं के प्रति तीव्र विद्रोह हुआ। इसी विद्रोह का एक रूप शिक्षा की कृत्रिम पद्धतियों के प्रति भी था। फ्रांस में इस क्रान्ति के प्रणेता वाल्टेयर और रूसो माने जाते हैं। इनमें से रूसो ने फ्रांस की जनता को अधिक प्रभावित किया। रूसो ने शिक्षा—क्षेत्र में प्रकृति का समर्थन कर महान क्रान्ति की। रूसो ने अपनी पुस्तक 'एमील' में शिक्षा—व्यवस्था की आदर्श रूपरेखा प्रस्तुत की। उसका मत था कि बालक के समुचित विकास के लिये उस पर से समस्त बन्धन हटा लेने चाहिए और उसकी स्वाभाविक प्रकृतियों को स्वतंत्र रूप से खुलकर खेलने का अवसर देना चाहिए। उसने कहा कि बालक का विकास भीतर से प्राकृतिक प्रक्रिया के अनुसार होना चाहिए, बाहर से लादे जाकर नहीं। रूसो ने स्पष्ट किया कि शिक्षा न तो अध्यापक—केन्द्रित होनी चाहिए और न पुस्तक—केन्द्रित, वरन् वह बाल—केन्द्रित होनी चाहिए और इसके लिये प्रकृति के तथ्य और दृश्य ही वास्तव में शिक्षा की सामग्री हैं। रूसो ने उस समय फ्रांस में प्रचलित शिक्षा—पद्धति का उग्र

विरोध किया और उसका पूर्णतः निषेध करने की सलाह दी। वह सभी प्रकार की विधायक शिक्षा के विरुद्ध था और निषेधात्मक शिक्षा को उपयुक्त मानता था। रूसो के अतिरिक्त प्रकृतिवादी शिक्षा–दार्शनिकों में हरबर्ट स्पैन्सर, सैमुएल बटलर, बनार्ड शा, टी.एस. हक्सले, टी.पी. नन के नाम प्रमुख रूप से लिये जाते हैं।

वास्तव में प्रकृतिवाद किसी निश्चित दार्शनिक विचार के रूप में मान्य नहीं है। इसके समर्थकों में परस्पर विरोध दिखाई देता है। स्वयं प्रकृतिवाद का कोई निश्चित अर्थ नहीं है, उसे अनेक अर्थों में लिया जाता है। किन्तु शिक्षा के क्षेत्र में प्रकृतिवाद के महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। उसने शिक्षा–प्रणाली, पाठ्यक्रम, विद्यालय–संगठन, अनुशासन की स्थापना आदि क्षेत्रों में उपयोगी सिद्धान्त उपस्थित किये हैं। प्रकृतिवाद का महत्त्व शिक्षण–विधि के क्षेत्र में अधिक है, विचारधारा के रूप में यह एकांगी है। इसने मानव को केवल यन्त्र अथवा जैविकीय माना है। **प्रकृतिवादियों ने अध्यापक की पूर्ण उपेक्षा करके शिक्षा के मूल तत्त्व की ही उपेक्षा कर दी है। यद्यपि बालक पर दबाव नहीं पड़ना चाहिए और उसके स्वतंत्र विकास तथा उसकी स्वतंत्र क्रिया में हस्तक्षेप भी नहीं होना चाहिए, तथापि उसका संपूर्ण व्यवहार व्यवस्थित रूप से निर्दिष्ट होना आवश्यक है।**

शिक्षा में प्रयोजनवाद (प्रेग्मेटिज्म)

आदर्शवाद और प्रकृतिवाद के मध्यम मार्ग के रूप में शिक्षा का नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ, जिसका नाम प्रयोजनवाद या फलवाद (प्रैग्मेटिज्म) रखा गया। इस दार्शनिक सिद्धान्त के प्रमुख प्रवर्तक विलियम्स जेम्स ने भी इसे आदर्शवाद और प्रकृतिवाद का मध्यम मार्ग माना है। इस दार्शनिक सिद्धान्त के अन्य समर्थकों में शिलर और जॉन ड्यूई अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। यह सिद्धान्त वास्तव में अमरीकी दार्शनिक सिद्धान्त है।

यूरोप के अनेक देशों के लोग अमेरिका में जाकर बसे। इन विविधतापूर्ण प्रवासियों का कोई अपना दार्शनिक मत या सिद्धान्त नहीं था। ये सब लोग भौतिक सुख–सुविधा के उद्देश्य से वहाँ जाकर बसे थे। धीरे–धीरे इनमें एक राष्ट्र की भावना जाग्रत हुई तथा जीवन को व्यवस्थित बनाने के लिए जीवन–दर्शन की आवश्यकता अनुभव हुई। अतः इन यूरोपवासियों ने अपने अनुभव से प्राप्त ज्ञान के एवं उपयोगितावाद के आधार पर अपना जीवन–दर्शन विकसित कर लिया, जिसका नाम प्रयोजनवाद (प्रैग्मेटिज्म) पड़ा। इस दार्शनिक मत का मुख्य सिद्धान्त यही है कि मनुष्य अपने आदर्श की स्वयं सृष्टि करता है। शाश्वत जैसी कोई निश्चित वस्तु नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुयायी कहते हैं कि हमारा कोई भी निर्णय तभी सत्य हो सकता

है जब उसका परिणाम जीवन के लिए सन्तोषप्रद हो। उनका कथन है कि चिन्तन की सभी प्रणालियाँ परिस्थिति–सापेक्ष और व्यक्ति–सापेक्ष हैं। दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक सिद्धान्तों का मूल्य उनकी उपयोगिता से आँका जाना चाहिए। यदि सिद्धान्त उपयोगी है तो वह सत्य भी है। अतः जीवन के लक्ष्य और मूल्य देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार सदैव परिवर्तित होते रहते हैं, वे कभी भी शाश्वत नहीं हो सकते। यह दर्शन व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अधिक महत्त्व देता है। उसके अनुसार व्यक्ति को परिवेश से समन्वय करना चाहिए। धर्म, नीति, अध्यात्म और विज्ञान, सभी व्यक्ति और परिवेश के समन्वय के साधन हैं। प्रयोजनवाद (फलवाद) प्रयोगवाद है। उसमें प्राचीन रूढ़ियों, बन्धनों और परम्पराओं को ज्यों का त्यों नहीं माना जाता। वह क्रियाओं को विचारों से अधिक महत्व देता है। वह मानता है कि व्यक्ति को स्वयं प्रयोग करके सत्यों का पता लगाना चाहिए।

इस प्रयोजनवादी शिक्षा–दर्शन का सबसे बड़ा व्याख्याता जॉन ड्यूई को माना जाता है। उसने शिक्षा–दर्शन एवं शिक्षा–मनोविज्ञान पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। ड्यूई के अनुसार शिक्षा का एकमात्र लक्ष्य बालक की शक्तियों का विकास है। वह विकास किस प्रकार होगा, इसके लिये कोई सामान्य सिद्धान्त निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि भिन्न–भिन्न रुचियों और योग्यताओं के बालकों मे विकास भिन्न–भिन्न प्रकार से होता है। ड्यूई शिक्षा के लक्ष्य को भी उन्मुक्त छोड़ देना चाहता है, क्योंकि यदि लक्ष्य पहले से निश्चित कर लिया जायेगा तो बालक को उसी ओर ले जाने का प्रयत्न किया जायेगा, जो हानिप्रद है। शिक्षा बालक के लिये है, बालक शिक्षा के लिये नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य "ऐसा वातावरण तैयार करना है जिसमें प्रत्येक बालक को समस्त मानव जाति की सामाजिक जागृति में सक्रिय रहकर योगदान करने का अवसर मिले।" ड्यूई ने प्रगतिशील विद्यालय की स्थापना की, जिसका उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का विकास करना और शिक्षा द्वारा जनतन्त्र को स्थापित करना था। समाज का लघु रूप मानकर ड्यूई ने विद्यालय में उन सभी क्रियाओं को लघु रूप में किये जाने का समर्थन किया है जो बालक को बड़े होकर विद्यालय के बाहर करनी पड़ती हैं। प्रयोग प्रणाली (प्रोजेक्ट मेथड) शिक्षा–क्षेत्र में इस प्रयोजनवाद का सबसे बड़ा वरदान है।

ड्यूई के शिक्षा–सिद्धान्तों का सर्वत्र स्वागत हुआ है, किन्तु अनेक विचारकों ने उनकी आलोचना भी की है। सत्य को स्थायी न मानना, विशुद्ध भौतिकवादी दृष्टिकोण, शिक्षा के लक्ष्य का अभाव आदि उसके सिद्धान्त स्वीकार–योग्य नहीं हैं।

यथार्थवादी शिक्षा–दर्शन

यूरोप में आदर्शवाद के अतिरेक से जीवन का वास्तविक रूप इतना असम्बद्ध

और विच्छिन्न हो गया था कि आदर्शवाद के द्वारा स्थापित और समर्थित आदर्शों तक पहुँच पाना जीवन के किसी क्षेत्र में भी संभव नहीं रह गया था। इसलिये स्वभावतः इस निरर्थक, अव्यावहारिक और कृत्रिम आदर्शवाद से लोग उकता उठे थे। दूसरी ओर विज्ञान के क्षेत्र में इतने वेग से उन्नति हो रही थी कि नये–नये वैज्ञानिक अन्वेषणों और अनुसन्धानों के द्वारा जहाँ मनुष्य के ज्ञान का संवर्धन हो रहा था, वहीं अनेक प्रकार की जीवन–सुविधायें भी प्राप्त हो रही थीं। अतः स्वभावतः लोगों ने आदर्शवाद के काल्पनिक चिन्तन–क्षेत्र से हटकर प्रत्यक्ष ज्ञान–विज्ञान और अनुभव की ओर प्रवृत्त होना प्रारम्भ कर दिया। इसी में से यथार्थवाद नामक दार्शनिक सिद्धान्त का जन्म हुआ।

इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओं की ही यथार्थ सत्ता है, अर्थात् जो कुछ हम देखते हैं, अथवा इन्द्रियों से अनुभव करते हैं, वही सत्य है। इस प्रकार यथार्थवादी भौतिक जड़ जगत् को यथार्थ मानते हैं। वे वास्तविक, व्यावहारिक और लौकिक जीवन को अधिक महत्त्व देते हैं। इनके अनुसार वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञान से स्वतंत्र है। हमारा ज्ञान ज्ञेय को प्रभावित नहीं करता।

यूरोप में पुस्तकीय शिक्षा का अत्यधिक प्राबल्य था। उसके विरोधस्वरूप यथार्थवादी शिक्षा–पद्धति का प्रचलन प्रारंभ हुआ। इन शिक्षाशास्त्रियों का मत था कि पुस्तकीय शिक्षा से बालकों को जितना भी ज्ञान दिया जाता है वह सब निरर्थक और अव्यावहारिक होता है। अतः बालकों को इस प्रकार और ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे उनको अपने परिवेश और वातावरण का ठीक–ठीक ज्ञान हो सके। यथार्थवादी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है बालक को वातावरण से परिचित कराना, जिससे वह वास्तविक जीवन के लिये तैयार हो सके। इन शिक्षा–शास्त्रियों का मत है कि बालकों को किसी–न–किसी प्रकार की व्यावसायिक शिक्षा दी जाय जो आगे चलकर उनकी जीविका का आधार बन सके। यथार्थवादी शिक्षा की तीन प्रमुख धारायें मिलती हैं – मानवतावादी यथार्थवाद, सामाजिक यथार्थवाद और इन्द्रियानुभवाश्रित यथार्थवाद। यथार्थवादी शिक्षाशास्त्रियों में रावले, जॉन मिल्टन, लॉक, फ्रॉन्सिस बेकन प्रमुख रूप से प्रसिद्ध हैं।

यथार्थवाद वास्तव में कोई दर्शन अथवा सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि दार्शनिक मीमांसा केवल वहीं संभव है जहाँ किसी वस्तुतत्त्व या पदार्थ के परोक्ष या अप्रत्यक्ष की मीमांसा की जाय। यथार्थ तो प्रत्यक्ष का ही दूसरा नाम है, इसलिये यथार्थ के दार्शनिक पक्ष की न कोई आवश्यकता है और न उसकी दार्शनिक व्याख्या ही संभव है। इसलिये बहुत से विद्वान यथार्थवाद को कोई दार्शनिक वाद नहीं मानते।

भारतीय एवं पाश्चात्य शिक्षा–दर्शन में मौलिक भेद

पाश्चात्य शिक्षा–दर्शनों के उपर्युक्त विवेचन से एक बात तो यह स्पष्ट होकर सामने आती है कि अधिकांश पाश्चात्य शिक्षा–दर्शन विशिष्ट परिस्थितियों की उपज हैं अथवा किसी परिस्थिति के विरोधस्वरूप उनका जन्म हुआ है। प्रकृतिवादी दर्शन उस शिक्षा के विरोधी आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ जो धर्म और अध्यात्मवाद की शुष्क जटिलताओं से लदी थीं। अठारहवीं शताब्दी के सामाजिक आदर्श और व्यवस्थायें सड़–गलकर निःसार हो चुकी थीं। उस कृत्रिम रूढ़िवाद के विरोध में यह दर्शन प्रकृतिवाद के नाम से उठ खड़ा हुआ। इसी प्रकार, यथार्थवाद का जन्म उस समय हुआ जब यूरोप की संपूर्ण शिक्षा मौखिक, काल्पनिक और पुस्तकाश्रित हो चुकी थी। उस समय शिक्षा को यथार्थवादी बनाने का यही अभिप्राय था कि शिक्षा–प्रक्रिया में जीवन के प्रत्यक्ष और व्यावहारिक पक्ष को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाय। अमेरिका का प्रयोजनवादी शिक्षा–दर्शन (प्रैग्मेटिज्म) वहाँ की विशिष्ट परिस्थिति की उपज है। यूरोप के विभिन्न देशों से भिन्न–भिन्न विचारधाराओं के लोग अमेरिका में जाकर बसे। स्थायी रूप से बसने के पश्चात् सब मिलकर एक नवीन समाज का रूप खड़ा हुआ जो पूर्णतः आदर्शविहीन था। उसका एक ही लक्ष्य था कि जीवन को भौतिक सुख–सुविधाओं से संपन्न बनाया जाये और जो इस लक्ष्य की प्राप्ति में उपयोगी हो उसे अपना लिया जाये। यही उनके जीवन का सिद्धान्त बन गया और उसी में से प्रयोजनवादी दर्शन का विकास हुआ जो शिक्षा का भी दर्शन बना। आदर्शवाद की भी लगभग यही स्थिति है। सृष्टि के गूढ़ रहस्यों से प्रभावित होकर इस विचार ने जन्म लिया कि इस आश्चर्य–जनक सृष्टि का जनक कोई परम शक्तिशाली तत्त्व है जो इसका संचालन कर रहा है। इस कल्पना में से धर्म और उपासना की अनेक संस्थाओं ने जन्म लिया। परंतु ये संस्थायें अथवा आदर्शवादी विचारक कल्पना में अधिक रहे। मानव जाति को कोई आदर्श जीवन की स्थायी व्यवस्था वे नहीं दे सके, जिससे जीवन का व्यवहार आदर्शों एवं विचारों के अनुरूप बन सके। इस कारण यह दर्शन रूढ़िवाद बनकर रह गया, जो कालान्तर में उखाड़कर फेंक दिया गया।

दूसरी बात इन पाश्चात्य दर्शनों के विवेचन से यह प्रकट होती है कि इन दर्शनों में जीवन का टुकड़ों–टुकड़ों में विचार हुआ है। जीवन का समग्र विचार किसी दर्शन में नहीं हुआ। उसके एक–एक पक्ष को आधार बनाकर विभिन्न नामों से दर्शन प्रकट हुए। ये तात्कालिक परिस्थितियों के विरोधस्वरूप खड़े हुए थे, अतः उन परिस्थितियों से जकड़े हुए अथवा ऊबे हुए लोगों को इन दर्शनशास्त्रियों के विचारों ने प्रभावित किया।

भारतीय दर्शन के विषय में यह देखने को मिलता है कि उसका जन्म किसी परिस्थितिवश अथवा किसी परिस्थिति के विरोधस्वरूप नहीं हुआ। मानवीय बुद्धि एवं जीवनानुभवों के विकास–क्रम के साथ इसका विकास हुआ है। साथ ही भारतीय चिन्तन में जीवन का समग्र रूप से समाविष्ट मिलता है। मनीषियों ने जीवन के सत्यों का आविष्कार अनुभूति के आधार पर, शुद्ध वैज्ञानिक ढंग से किया और वे सत्य मानव के जीवन–व्यवहार में प्रकट हो सकें, इसके लिये समाज में एवं व्यक्ति के जीवन में व्यवस्थाओं का निर्माण किया। यही कारण है कि भारतीय जीवन–दर्शन आज हजारों वर्ष पश्चात् भी जीवित है, यद्यपि कुछ कालखण्ड ऐसे दिखाई देते हैं जब व्यवहार में विकृतियाँ उत्पन्न हुईं। उस समय सुधार आन्दोलनों के रूप में कुछ दर्शन अथवा विचारधाराएँ प्रकट हुईं, परन्तु मूल चिन्तनधारा से वे जुड़े रहे। जिन विचारधाराओं ने इसका परिपालन नहीं किया, वे भारत के राष्ट्र–जीवन की मूलधारा से अलग होकर लुप्त हो गयीं।

3

भारतीय शिक्षा के दार्शनिक आधार

शिक्षा जीवन के विकास की प्रक्रिया है। वह जीवन की साधना है, जीवन का साक्षात् स्वरूप है। व्यक्ति और समाज के जीवन में जो कुछ विकास हुआ है वह शिक्षा के द्वारा ही हुआ है। सभ्यता और संस्कृति के विकास के पीछे शिक्षा की प्रेरणा रही है। वास्तव में शिक्षा जीवन के विकास का पर्याय है। राष्ट्र–जीवन के मूल्य एवं आदर्श ही शिक्षा के मूल्य एवं आदर्श होते हैं। प्राचीन और महान संस्कृति के उत्तराधिकारी भारत ने अनुभव की एक लम्बी यात्रा के पश्चात् जीवन के आधारभूत सत्यों का आविष्कार किया है। उन सत्यों के आधार पर श्रेष्ठ जीवन–मूल्यों एवं आदर्शों का विकास हुआ है। भारतीय जीवन के ये सत्य ही भारतीय शिक्षा–दर्शन के मूलाधार हैं। इन आधारों पर विकसित शिक्षा ही भारतीय जीवन का पर्याय बन सकती है। इनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है।

भारतीय जीवन–दर्शन की 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' आध्यात्मिक दृष्टि इस चराचर जगत् में भेद में अभेद देखती है। एवं एकात्मता की अनुभूति करती है। इसी अनुभूति के आधार पर 'वसुर्धव कुटुम्बकम्' की भावना प्रत्येक मानव के अन्तःकरण में विकसित करना शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य है।

कर्मवाद एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त

भारतीय जीवन–दर्शन का दूसरा आधारभूत तत्त्व है कर्मवाद और उसके आधार पर जीवन का विकास करते हुए मुक्ति अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति करना। जीवन के इस लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु प्राणी को सतत् सत्कर्मों के रूप में प्रयास करना होता है। जब तक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती, उसे बार–बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है–

बहूनि में व्यतीतानि जन्मानि तब चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।। (गीता 4/5)

अर्थात् हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। हे परंतप! उन सबको तू नहीं जानता, मैं जानता हूँ।

मानव के स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर माने गये हैं। यह सूक्ष्म शरीर बुद्धि, मानस, पंचप्राण एवं दस इन्द्रियों के सूक्ष्म भागों को मिलाकर 17 तत्त्वों से बनता है। जब मृत्यु होती है तो स्थूल शरीर मरता है, सूक्ष्म शरीर दूसरा शरीर धारण कर लेता है। गीता में कहा है, "जैसे हम फटे–पुराने वस्त्रों को त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करते हैं, उसी प्रकार यह जीवात्मा न रहने योग्य पुराने शरीर को त्याग कर नवीन शरीर धारण करता है।"

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।
(गीता 2/22)

यह पुनर्जन्म का सिद्धान्त भारतीय दर्शन की केवल मान्यता ही नहीं है अपितु सत्य वैज्ञानिक तथ्य सिद्ध हो चुका है। जो पश्चिमी जगत् पुनर्जन्म–सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता, वहाँ अमेरिका के एक वैज्ञानिक ने पुनर्जन्म की 1200 घटनाओं का अध्ययन विभिन्न देशों में किया जो समाचार–पत्रों में प्रकाशित हो चुका है।

भारतीय दर्शन के अनुसार, जिस प्रकार समस्त भौतिक जगत् प्रकृति के नियमों से संचालित होता है, उसी प्रकार इस नैतिक जगत् का नियमन कर्म–सिद्धान्त के द्वारा होता है। **अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा होता है। एक जन्म के कर्मों के फल दूसरे जन्म में भोगने पड़ते हैं। इसी नियम के अनुसार मनुष्य अच्छे कर्म करने हेतु प्रेरित है।** इस प्रकार विकास करता हुआ वह अपने परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है।

इसलिये प्रत्येक प्राणी अपनी–अपनी भिन्न–भिन्न सीढ़ियों पर खड़ा विकासोन्मुख है।

पश्चिमी वैज्ञानिक डार्विन ने विकास–प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए अजैव जगत् में सोद्देश्यता को अस्वीकार किया है, किन्तु हेण्डरसन आदि वैज्ञानिकों ने सोद्देश्यता को बलपूर्वक स्थापित किया है। हेण्डरसन कहते हैं कि पृथ्वी पर जीवन के अवतरण से पूर्व पर्यावरण में उसके लिये तैयारी हो रही थी और इस प्रकार अजैव जगत् भी सोद्देश्य है। किन्तु अब धीरे–धीरे अन्य पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रकृति की सोद्देश्यता तथा उसके पृष्ठ पर किसी नियामक तत्त्व के अस्तित्व को अनुभव कर रहे हैं। अनेक प्रमुख वैज्ञानिकों ने अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि प्रकृति में व्यवस्था है, नियमों में सार्वभौमिकता है और विश्व में एक महान् अभिकृति (डिजाइन) है तथा समग्र में एक प्रतिकृति (पैटर्न) है, जिससे सिद्ध होता है कि कोई अनन्त बुद्धि है जो विश्व में एक व्यवस्था रखती है तथा विश्व कोई स्वतंत्र यंत्र नहीं, बल्कि इसका कोई हितकारी उद्देश्य है। ये विचार 'हैज साइन्स डिस्कवर्ड गॉड?' एवं

'ए सिम्पोजियम ऑफ माडर्न साइण्टिफिक ओपीनियन' नामक पुस्तकों में मिलिकन, मेथर, एडिंगटन, आइन्सटीन, जूलियन हक्सले, मैक्डूगल, जीन्स इत्यादि प्रमुख वैज्ञानिकों ने प्रकट किये हैं।

पश्चिम के दार्शनिकों ने 'अस्तित्व के लिये संघर्ष एवं योग्यतम का अस्तित्व' – यह सिद्धांत सृष्टि के समस्त व्यवहार का आधार माना है। भारतीय विचारकों ने इसके विपरीत, सृष्टि के समस्त अवयवों में परस्पर पूरकता का दर्शन किया है।

इसी कारण भारतीय जीवन–रचना में प्रकृति, व्यक्ति एवं समाज में सहयोग एवं परस्पर पूरकता के आधार पर सभी विकास करते दिखाई देते हैं। व्यक्ति और समाज का जीवन तो परस्पर पूरक है ही, उन्हें स्वजीवन के निर्वाह के लिये अन्य प्राणियों पर भी निर्भर रहना पड़ता है। समस्त प्राणिवर्ग के जीवन के लिये आवश्यक प्राणवायु वनस्पतियों द्वारा प्राप्त होती है। वनस्पतियों को स्वजीवन के लिए आवश्यक कार्बन डाई ऑक्साइड मनुष्य जैसे प्राणियों द्वारा दी जाती है। इस प्रकार सृष्टि में सभी का जीवन परस्पर आधारित है।

भारतीय जीवन में 'यज्ञ' का महत्त्व इसीलिये माना है। यह यज्ञ–चक्र आदान–प्रदान की प्रक्रिया है। इसी के आधार पर समस्त सृष्टि का जीवन सन्तुलित एवं समन्वयात्मक रूप से चल सकता है। **आधुनिक काल में पाश्चात्य जीवन–दर्शन की मान्यताओं के कारण सृष्टि–जीवन में असन्तुलन उत्पन्न हो गया है, जिसका परिणाम मानव को भुगतना पड़ रहा है।** आज प्रकृति का जिस ढंग से मानव अपने स्वार्थ के लिये दोहन करने में संलग्न है उसके भयंकर परिणाम से सभी विचारक चिन्तित हैं।

अतः इस जगत में जीवन को सुखी एवं विकसित करने हेतु भारतीय जीवन–दर्शन के यज्ञचक्र को चलाते रहना नितान्त आवश्यक है। पश्चिमी जगत् को आज नहीं तो कल, इसी मार्ग को अपनाना होगा। स्वार्थपरता एवं संघर्ष के व्यवहार से व्यक्ति और समाज ही नहीं, इस विश्व के स्थावर–जंगम – सभी के जीवन में अशान्ति एवं असन्तोष उत्पन्न होगा।

जीवन का लक्ष्य

श्री गुरुजी गोलवलकर ने जीवन के उद्देश्यों को सर्वसामान्य व्यक्ति की सीमित कल्पनाओं एवं व्यावहारिक धरातल की भाषा में कहा है– "समाज ही उस अव्यक्त ब्रह्म का विशाल एवं विराट् व्यक्त रूप है। अतः अपने जीवन को इस समाज रूपी परमेश्वर की सेवा में पूर्णरूपेण समर्पित करना ही जीवन का परम लक्ष्य है।" यह जीवन–लक्ष्य मनुष्य को पशु से भिन्न करता है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि

प्रवृत्तियाँ मनुष्य में और पशु में समान रूप से पायी जाती हैं। मनुष्य और पशु में केवल यही अन्तर है कि मनुष्य का जीवन–लक्ष्य होता है, पशु का लक्ष्य नहीं होता। लक्ष्य ही मनुष्य में मनुष्यत्व समझा जाता है। लक्ष्यहीन मनुष्य तो निरा पशु ही है। ईश्वर की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति मानव–व्यक्तित्व है। भारतीय ऋषियों ने कहा है– "न हि मनुष्यात्श्रेष्ठतरं हि किंचित्" –मनुष्यत्व से बढ़कर कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है।

इस परम लक्ष्य – मोक्ष प्राप्ति हेतु भारतीय ऋषियों ने धर्माधारित अर्थ और काम की सिद्धि आवश्यक मानी है। दुःखों से आत्यन्तिक विमुक्ति एवं परम आनन्द की प्राप्ति। भारतीय चिंतन एवं अनुभूति के आधार पर चिरन्तन सुख जड़ वस्तु में नहीं है। मनुष्य को धन, पद, प्रतिष्ठा, सुत, पत्नी, परिवार, सुयश आदि समस्त सांसारिक सुख प्राप्त होने पर भी उसे स्थायी शांति एवं सुख प्राप्त नहीं होता। वास्तव में मानव देह नहीं है, आत्मा है। उसके भीतर एक ज्योति है जो महाज्योति से मिलने के लिये आतुर है। जब तक मानव अपने मूल से वियुक्त है, तब तक उसके अन्दर का हाहाकर कभी शान्त नहीं हो सकता। आत्मा का परमात्म तत्त्व की ओर यह प्रबल आकर्षण मानवेतर अन्य किसी योनि में संभव नहीं है। अतः सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति ही मानव–जीवन का परम लक्ष्य है। ज्ञान, भक्ति, निष्काम कर्म एवं चित्तवृत्ति–निरोध – इन साधना–मार्गों से वह अपने परम लक्ष्य चिरन्तन आनन्द की प्राप्ति कर सकता है। भारतीय शिक्षा का लक्ष्य भी यही माना गया है। 'सा विद्या या विमुक्तये' – अर्थात् विद्या वह है जो मुक्ति प्रदान करे।

धर्म

आजकल भ्रमवश धर्म को अंग्रेजी भाषा के शब्द 'रिलीजन' के अर्थ में समझा जाने लगा है। भारतीय दर्शन में धर्म शब्द व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इसका पर्यायवाची शब्द किसी अन्य भाषा मे उपलब्ध नहीं है। 'रिलीजन' शब्द तो भारतीय विचार के अनुसार उपासना–पंथ के समकक्ष माना जा सकता है। अतः धर्म शब्द को समझना आवश्यक है। **इसके अर्थ को ठीक प्रकार न समझकर 'रिलीजन' के अनुवाद के रूप में इसका प्रयोग किया जा रहा है। जिसके परिणाम–स्वरूप घोर अनर्थ व्याप्त है तथा धर्म–भूमि भारत में धर्म–निरपेक्षता की नीति की आड़ में अधर्म पनप रहा है।**

भारतीय दर्शन में धर्म को सार्वभौमिक नियमों के रूप में माना जाता है। "धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।" जो सब प्रजाओं की धारणा करे (अर्थात् समाज–जीवन स्वस्थ एवं व्यवस्थित चले, इस धारण क्रिया के कारण) वह धर्म कहलाता है। वैशेषिक दर्शन के आचार्य कणाद के अनुसार "यतो ऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।"–इस लोक व परलोक में समृद्धि एवं शान्ति दिलाने वाला 'धर्म'

कहलाता है। मनु ने धर्म के दस लक्षण बताये हैं–

धृतिः क्षमा दमोऽतेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

धैर्य, क्षमा, दम, अचौर्य, शुचिता, इन्द्रिय–निग्रह, विवेक, विद्या, सत्य तथा अक्रोध, ये धर्म के दस लक्षण माने गये हैं। वास्तव में व्यक्ति–व्यक्ति में इन गुणों के व्यवहार के कारण ही समाज–जीवन चलना संभव है। इनके अभाव में घोर अव्यवस्था उत्पन्न होती है।

धर्म के संबंध में, विशेष रूप से पश्चिमी जगत् में, यह भ्रान्त धारणा है कि जो व्यक्ति हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, मुस्लिम आदि मतों में दीक्षित होकर किसी विशेष देवता, पैगम्बर या ईश्वर को मानते हुए, उसमें आस्था रखते हुए, उस पंथ के आचार्यों द्वारा बताये हुए या धर्म–ग्रन्थों में निर्दिष्ट किये गये कर्मकाण्ड का जितना अधिक पालन करते हैं, उतने ही अधिक वे धर्मात्मा या धर्म के पालन करने वाले होते हैं। किन्तु यह धारणा अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है। धर्म तो जीवन का विशेष व्यवहार–तत्त्व है जिसके आधार पर सारी सृष्टि शान्तिपूर्वक व्यवस्थित ढंग से चलती आ रही है। वे सभी नियम और वे सभी व्यवस्थाएँ मिलकर धर्म का रूप बिना किसी को कष्ट पहुँचाये या असुविधा दिये अपने जीवन का व्यवहार चलाता है और सदा स्वयं असुविधा सहन करके भी दूसरे का हित करने की भावना रखता है, वही सच्चे अर्थों में धर्म–पालन करता है। व्यास जी ने महाभारत में धर्म के लक्षण बताते हुए कहा है कि दूसरे का हित करना ही पुण्य है और दूसरे को कष्ट देना ही पाप है– **"परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्।"**

ईश्वरोपासना के सभी मार्ग सत्य

भारत में ईश्वर की उपासना धर्म का एक भाग है। अपनी रुचि एवं श्रद्धा के अनुसार ईश्वर की उपासना की विभिन्न पद्धतियाँ पंथों के रूप में प्रचलित हैं। इन सभी उपासना–पद्धतियों का एक ही मन्तव्य है। भारतीय दर्शन के अनुसार सभी उपासना–पद्धतियों के मार्गों से ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। इसी मान्यता के कारण भारतीय सभी उपासना–पद्धतियों के प्रति सहिष्णुता एवं आदर का भाव रखते हैं। विश्व के अन्य देशों के धर्मों के अनुयायियों में यह भाव नहीं है। मुस्लिम एवं ईसाई मतों के अनुसार ईश्वर की प्राप्ति या मुक्ति केवल उन्हीं के पैगम्बरों के द्वारा बताये मार्ग पर चलकर ही सम्भव है, अन्य मार्गों से नहीं। इसी कारण उन मतों के मानने वालों में दूसरे पन्थों के प्रति घोर असहिष्णुता पायी जाती है।इतिहास उस असहिष्णुता के परिणाम स्वरूप रक्त–रंजित अत्याचारों की घटनाओं से भरा पड़ा

है। भारतीय जीवन–दर्शन के अनुसार "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"–ईश्वर या सत्य एक है, विद्वान लोग अनेक प्रकार से उसका वर्णन करते हैं। भारतीय लोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, अपितु समस्त धर्मों को सच्चा मानकर स्वीकार करते हैं। शिव महिम्नस्तोत्रम् के अनुसार– "जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न–भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न–भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े–मेढ़े अथवा सीधे मार्ग से जाने वाले लोग अन्त में तुझमें ही आकर मिल जाते हैं।"

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पत्रसामर्णव इव।।

गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है– "जो कोई मेरी ओर आता है– चाहे किसी प्रकार से हो– मैं उसको प्राप्त होता हूँ। लोग भिन्न–भिन्न मार्गों द्वारा प्रयत्न करते हुए अन्त में मेरी ही ओर आते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।। (4 / 11)

धर्मानुसार अर्थ और काम

भारतीय जीवन–दर्शन के अनुसार जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का महत्व भी स्वीकार किया गया है। आत्मा की चिन्ता के साथ शरीर के महत्त्व को माना है। उपनिषदों में स्पष्ट कहा है कि "नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यः"–दुर्बल व्यक्ति आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। इसी प्रकार "शरीर माद्यं खलु धर्मसाधनम्"– शरीर धर्म का प्रथम साधन कहा गया है।

भारतीय विचारों एवं पाश्चात्य विचारों में यही अन्तर है कि उन्होंने शरीर को साध्य माना है और भारत ने साधन। धर्म आधारभूत पुरुषार्थ है। धर्माधारित अर्थ और काम को भारतीय दर्शन में मान्यता प्रदान की जाती है।

अर्थ के अन्तर्गत आज की परिभाषा के अनुसार राजनीति और अर्थनीति का समावेश होता है। राज्य का आधार धर्म को माना है। अकेली दण्डनीति राज्य को चला नहीं सकती। समाज में धर्म न हो तो राज्य नहीं टिक सकता। भारतीय जीवन–रचना का केन्द्र–बिन्दु सदैव धर्म रहा है। राज्य अथवा राजनीति जीवन का एक भाग रहा है। भारत का राष्ट्रीय जीवन राज्य के उत्थान–पतन से सदैव अप्रभावित रहा और यही कारण है कि यहाँ का राष्ट्रीय जीवन सहस्रों वर्षों से अबाध गति से चलता आ रहा है, जबकि विश्व के अनेक प्राचीन राष्ट्रों का जीवन

उनके राज्य की समाप्ति के साथ ही ध्वस्त हो गया।

सतयुग में भारत में राज्य–सत्तारहित समाज–रचना थी। यहाँ न राजा था, न राज्य था, न दण्ड देने वाला था, न दण्ड था; समाज के लोग आपसी समझ एवं कर्त्तव्यनिष्ठा, अर्थात् धर्म के आधार पर परस्पर रक्षा एवं सेवा करते थे। समाज की धारणा धर्म के कारण होती थी–

न राज्यं न च राजासीत् न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वारक्षन्ति स्म परस्परम्।।

पश्चिमी देशों में राष्ट्र को राजनीतिक इकाई माना गया है, अतः वे 'राष्ट्र' और 'राज्य' में भेद नहीं कर पाये। भारतीय दर्शन के अनुसार राष्ट्र एक सांस्कृतिक इकाई है। राष्ट्र स्वयंभू है, अर्थात् स्वयं जन्म ग्रहण करता है। सामाजिक समझौता सिद्धान्त पर लागू नहीं होता, राज्य पर यह सिद्धान्त लागू हो सकता है। यही कारण है कि भारत में किसी का भी राज्य रहा हो, अथवा कैसी भी राज्य–रचना हो, इससे राष्ट्रीय एकात्म जीवन विशेष प्रभावित नहीं होता। **भारत में भाषा, वेश, खानपान, उपासना–पद्धति आदि के भेद होते हुए भी जीवन के आदर्श, प्रेरणा एवं लक्ष्य समान होने के कारण राष्ट्र–जीवन एक है।**

भारतीय दर्शन में अर्थ के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। अर्थशास्त्र की रचना हुई है। सबकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक मानी गयी है। मनु ने कहा है–

धर्मार्थरिच्यते श्रेयः कामार्थो धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस् त्रिवर्गः इति तु स्थितिः।।

कुछ को कर्त्तव्य एवं सम्पदा उचित लगती है, कुछ लोगों को सम्पदा एवं उसका भोग अच्छा लगता है। परन्तु वास्तव में अनुभव की बात यह है कि तीनों को मिलाकर ही मनुष्य का लौकिक जीवन स्वस्थ एवं सुखी होता है। भारतीय चिन्तन में भौतिक समृद्धि एवं उपभोग की उपेक्षा नहीं की गयी है। काम को साधारण रूप से सभी कर्मों की प्रेरणा–शक्ति माना गया है। "अकामा व क्रिया क्वचित्"–अर्थात् कोई क्रिया इच्छा के बिना संभव नहीं। इसी कारण भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में "धर्माविरुद्धो... कामोऽस्मि"–धर्म के अनुकूल काम मैं हूँ कहा।

भारतीय विचार के अनुसार अर्थ का नियन्त्रण एवं वासनाओं का संयम आवश्यक बताया है, क्योंकि वासनाओं या कामनाओं का कोई अन्त नहीं है। विद्वानों ने कहा है– "न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति" अर्थात् जैसे अग्नि आहुति देने से धधक उठती है, उसी प्रकार वासना–विकार भी भोग से धधक उठते हैं। भले ही आयु

क्षीण हो, पर वासनाएँ क्षीण नहीं होतीं। इसीलिये इन कामनाओं के नियंत्रण के लिए धर्म का सहारा लेना आवश्यक है। अर्थोपार्जन एवं अर्थ का उपभोग करते समय यदि धर्माचरण का ध्यान रखा गया हो तो ईर्ष्या–द्वन्द्व से रहित, स्वस्थ एवं सुखी जीवन बिताया जा सकता है। इसीलिये भारतीय जीवन–रचना में अर्थ प्राप्ति एवं काम की पूर्ति के लिये धर्म आधार माना गया है जो मानव को उसके अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' की ओर बढ़ाता है। आज पश्चिमी जगत में अनियन्त्रित अर्थोपार्जन, सुख–सुविधाओं के लिये भौतिक वस्तुओं का अत्यधिक संग्रह एवं आवश्यकताओं को बढ़ाते जाना–इस दुष्चक्र से ग्रसित होकर जीवन में अशान्ति, असन्तोष एवं स्पर्धा व्याप्त है। जीवन में सुख–समाधान तो दूर, उन्हें शान्तिपूर्ण नींद के लिये भी औषध की गोलियाँ खानी पड़ती हैं। वास्तव में भारतीय जीवन–दर्शन के अनुसार धर्माधारित अर्थ एवं काम ही मानव को सच्चा सुख एवं शान्ति प्रदान कर सकते हैं।

'वसुधैव कुटुम्बकम्'

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष–पुरुषार्थ चतुष्ट्य की सिद्धि प्राप्त कर परिपूर्ण मानव के विकास की व्यवस्था भारतीय शिक्षा–दर्शन में की गयी है। प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास के द्वारा अपने व्यक्तित्व को अखण्ड बनायेगा। इस प्रकार परिपूर्ण मानव के आधार पर ही भारतीय चिंतन में व्यक्ति से परिवार, समाज, राष्ट्र, मानवता और चराचर सृष्टि का विचार हुआ है।

इसी विचार–दर्शन के आधार पर सृष्टि की चराचर इकाइयाँ स्वायत्तता बनाये रखते हुए परस्पर पूरक बनकर आध्यात्मिक एकात्मता का साक्षात्कार कर सकेंगी एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श की स्थापना हो सकेगी। यही भारतीय शिक्षा का लक्ष्य है।

4

मनोविज्ञान और शिक्षा

शिक्षा–दर्शन के द्वारा शिक्षा की दिशा निर्धारित होती है। शिक्षा के लक्ष्य तथा शिक्षा के विभिन्न पक्षों का स्वरूप क्या हो, यह शिक्षा–दर्शन निश्चित करता है। किन्तु शिक्षा के लक्ष्य कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं? अथवा, शिक्षा की पद्धति क्या हो? यह मनोविज्ञान के द्वारा निर्धारित होता है। अतः शिक्षा एवं मनोविज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिक्षा मानव–विकास की प्रक्रिया है। मनोविज्ञान मानव–प्रकृति का अध्ययन करता है, मनस् तत्व की व्याख्या करता है। प्रकृति एवं मनस् विकास के अभिकरण हैं। मनोविज्ञान शिक्षा की प्रक्रिया में सहायक होता है। इसी कारण शिक्षा–मनोविज्ञान का विकास स्वतन्त्र विषय के रूप में हुआ है।

मनोविज्ञान का शाब्दिक अर्थ मन का विज्ञान है। 'साइकोलॉजी' शब्द का अर्थ आत्मा का विज्ञान है। पश्चिमी जगत् में पहले आत्मा (सोल) के विज्ञान के रूप में मनोविज्ञान की मान्यता थी। किन्तु कुछ शताब्दियों के पश्चात् आत्मा को एक दार्शनिक एवं धार्मिक प्रत्यय कहा गया और उसके स्थान पर मन (माइण्ड) को स्वीकार किया गया। परन्तु मन क्या है? उसका स्वरूप क्या है? पश्चिम के मनोविज्ञानवेत्ता इसका निश्चित उत्तर नहीं दे सके। अतः भौतिकवादियों ने मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय जीव का व्यवहार निश्चित किया है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान

पाश्चात्य मनोविज्ञान के इतिहास की ओर ध्यान देने से हमें ज्ञात होता है कि यह तथाकथित वैज्ञानिक रूप इसको बहुत थोड़े समय से प्राप्त हुआ है। सत्रहवीं शताब्दी तक इसका कोई विशिष्ट रूप नहीं था। इसकी प्रगति अन्य विज्ञानों में नवचेतना व प्रगति आने के साथ हुई है। शरीर शास्त्र के अन्वेषणों का प्रभाव इसके ऊपर अधिक पड़ा, क्योंकि इन दोनों का अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनों की समस्याएँ एवं पद्धतियाँ भी बहुत कुछ मिलती–जुलती सी हैं। इसी कारण शरीर–विज्ञान की प्रयोगात्मक पद्धति के प्रचलन से प्रेरणा लेकर मनोविज्ञान भी प्रयोगात्मक बना। 1889 में सर्वप्रथम वुण्ट (Wundt) ने जर्मनी में लीपजिग विश्वविद्यालय में एक

मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला स्थापित की और मनोविज्ञान को एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में विकसित करने का श्रेय प्राप्त किया।

19वीं शताब्दी में मनोविज्ञान का पर्याप्त विकास हुआ। उस समय अनेक मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों का जन्म हुआ। किन्तु वे सभी मन के केवल चेतन तत्वों के अध्ययन तक ही सीमित रहे। चिकित्साशास्त्र में जब औषधियों के द्वारा अनेक रोगों का निवारण चिकित्सक नहीं कर सके तो उन रोगों का निवारण करने के लिये उनका कारण जानने का प्रयत्न किया गया। फ्रायड (Freud) ने इस अन्वेषण में अवचेतन मन (unconscious mind) के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। उसके अनुसार मनुष्य की सारी क्रियाएँ एवं सारा जीवन अवचेतन मन से शासित होता है। फ्रायड ने उस मानसिक शक्ति को, जिसके द्वारा क्रियाओं को प्रेरणा और गति मिलती है, कामशक्ति (Libido) माना है। इस शक्ति का दमन करने से अनेक मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। फ्रायड के इस मनोविश्लेषणवादी सम्प्रदाय में एडलर, युंग आदि अनेक मनोवैज्ञानिक हुए, इनमें परस्पर भी मतभेद थे।

बीसवीं शताब्दी के प्रयोजनवादियों ने, जिनमें विलियम मैक्डूगल प्रमुख थे, मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार को प्रयोजनपूर्ण माना है और यह प्रयोजन मूल प्रवृत्तियों के द्वारा निश्चित होता है। व्यवहारवादी सम्प्रदाय के प्रमुख, अमेरिकी मनोवैज्ञानिक जे.वी. वाट्सन मानव को यन्त्रवत् मानते हैं। चेतन का अस्तित्व उनके यहाँ भ्रम मात्र है। उनके अनुसार मनोविज्ञान का विषय केवल प्राणी के व्यवहार का अध्ययन करना है। जर्मनी का अवयवीवाद सम्प्रदाय है, जिसके प्रमुख प्रवर्तकों में डाक्टर मैक्सबरदीमर, कर्ट कौफका, कोहलर आदि हैं। वे चेतना का पूर्णता के रूप में अध्ययन करते हैं। उनके अनुसार चेतना पूर्ण इकाई है। अलग–अलग अवयवों के मिलने से अवयवी का ज्ञान नहीं होता।

आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान आज पर्याप्त विकसित अवस्था में है। उसका क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो चुका है। किन्तु वह क्षेत्र संवेदना, उद्वेग, प्रत्यक्षीकरण, कल्पना, विचार, स्मृति आदि मानसिक प्रक्रियाओं तथा उनको उत्पन्न करने वाले भौतिक कारणों और शारीरिक अवस्थाओं के अध्ययन तक ही सीमित है। उसके अनुसार हमको जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त होता है वह सब ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित नाड़ियों द्वारा बाह्य जगत की उत्तेजनाओं के प्रभाव मस्तिष्क के विशिष्ट केन्द्रों में पहुँचने से प्राप्त होता है। वह मानसिक विचारों और भावों को मस्तिष्क के भौतिक तत्वों की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के रूप में जानता है। वह संवेदना एवं चेतना को मस्तिष्क–बल्कुट (cerebral cortex) की क्रिया मानता है। वह मस्तिष्क के कार्य से भिन्न आत्मा व मन का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता।

भारतीय मनोविज्ञान

भारतीय मनोविज्ञान का इतिहास अति प्राचीन है। पतंजलि का योगशास्त्र विशुद्ध मनोविज्ञान का शास्त्र है। इस शास्त्र में मानव की प्रकृति का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया गया है। पाश्चात्य मनोविज्ञान की पहुँच स्थूल अर्थात् भौतिक तत्व से आगे है ही नहीं। पातंजल योग–मनोविज्ञान विशुद्ध प्रायोगिक विज्ञान है। पाश्चात्य मनोविज्ञान अधूरा है। उसकी सबसे बड़ी कमी यह है कि वह मन और आत्मा को अपने अध्ययन का विषय ही नहीं मानता। भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार आत्मा और मन (अन्तःकरण–मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) के अध्ययन के बिना मानव–व्यवहार का अध्ययन ही व्यर्थ है। इन्द्रियाँ भी मन के संयोग के बिना ज्ञान प्रदान नहीं कर सकतीं; हमें बाह्य जगत का ज्ञान–इन्द्रिय–विषय सन्निकर्ष होने पर भी विषय का ज्ञान–नहीं होता। भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार मन इन्द्रियों द्वारा लाये हुए विषय को ग्रहण करता है तथा उसे बुद्धि को अर्पित करता है। बुद्धि, चित्त के संस्कारों के आधार पर अहंकार के सहयोग से उस विषय को अर्थ प्रदान करती है एवं प्रतिक्रिया बाहर भेजती है। परंतु यह समस्त प्रक्रिया चेतन सत्ता–आत्मा–के प्रकाश में घटित होती है। मस्तिष्क, इन्द्रियाँ, मन (अन्तःकरण)–ये तो जड़ हैं; चेतना का केन्द्र आत्मा है, उसके बिना विषयानुभूति या ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान विशुद्ध भौतिकवाद पर आधारित है। वह दृश्य जगत् एवं इन्द्रियजन्य ज्ञान के अतिरिक्त कुछ स्वीकार करने को तैयार नहीं है, यद्यपि अब पश्चिम के भौतिक वैज्ञानिक भी सृष्टि के परे आध्यात्मिक सत्ता को मानने को बाध्य हो रहे हैं। सर आर्थर एडिंगटन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ऑन दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड' में कहा है–

> "किसी अज्ञात क्रियाकलाप में कोई अज्ञात कारण प्रवृत्त हो रहा है जिसके विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। हमें किसी ऐसे मूल तत्व का भौतिक जगत में सामना करना पड़ रहा है जो इस भौतिक जगत के परे का पदार्थ है।"

मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी पश्चिमी विद्वान वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा 'मन के परे' जाने के प्रयत्न में लगे हैं। पैरा साइकोलॉजी नाम का नया मनोविज्ञान विकसित हो रहा है। ई.एस.पी. (एक्स्ट्रा सेन्सरी परसेप्शन–अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष) पर प्रयोग हो रहे हैं।

अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डॉक्टर राइन अनेक वर्षों से 'मन के परे' जाने की खोज में लगे हैं। 8 दिसम्बर, 1957 के 'दि अमेरिकन वीकली' में उनका एक लेख प्रकाशित हुआ था। इस लेख में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मृत्यु के बाद जीवन को विज्ञान असत्य सिद्ध नहीं कर सका है। आज पश्चिमी देशों में भी वैज्ञानिक

इस बात को धीरे–धीरे स्वीकार करने में लगे हैं कि इस समस्त भौतिक जगत के पीछे कोई आध्यात्मिक चेतन सत्ता है। अतः **पश्चिम का यह भौतिकवाद पर आधारित मनोविज्ञान मानसिक समस्याओं को पूर्णतः समझने में समर्थ नहीं है।**

श्री अरविन्द ने मानव–मन पर विचार प्रकट करते हुए कहा है– "इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन पद्धतियों की अपेक्षा आज की यूरोपीय शिक्षा–पद्धति बहुत आगे बढ़ी हुई है, किन्तु उसकी त्रुटियाँ भी स्पष्ट दिखाई देती हैं। वह मानव–मनोविज्ञान के अपर्याप्त ज्ञान पर आधारित है।" आज भारत में शिक्षा का आधार यही पश्चिम का आधुनिक अपूर्ण मनोविज्ञान बना हुआ है। अब भारत में मनोविज्ञान का अध्ययन पश्चिमी मनोविाान तक ही सीमित है। अपने देश में ऐसे बहुत कम मनोवैज्ञानिक हैं जो 'भारतीय मनोविज्ञान' से परिचित हैं। **अतः आज भारतीय मनोविज्ञान के अध्ययन की एवं उसके विकास की अत्यंत आवश्यकता है।** भारत में मनोविज्ञान वेदों और उपनिषदों तथा अन्य दार्शनिक विचारधाराओं से सम्बन्धित रहा है। भारतीय मनोविज्ञान का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। पुरुषार्थ–विवेचन भी इसी आधार पर हुआ है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के मूल में भी मनुष्य की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ हैं। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री एवं मनोवैज्ञानिक डॉक्टर सीताराम जायसवाल ने कहा है– "हमारी भारतीय परम्परा और पश्चिमी परम्परा, जिसमें यूरोप और उत्तरी अमरीका प्रमुख हैं, मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। हमें इस अध्ययन में उन प्रकाश–स्थलों पर ध्यान देना है जो भारत और पश्चिम में मनोविज्ञान के विकास को स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार तुलनात्मक रीति से मनोविज्ञान के इतिहास का अध्ययन विषय की एकता को बल प्रदान करता है। वह दिन दूर नहीं जब हम पूर्व और पश्चिम के भेद को भूल जायेंगे। जिस प्रकार हम विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में विश्व–दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं, उसी प्रकार मनोविज्ञान के अध्ययन में भी हमें विश्व–दृष्टिकोण अपनाना होगा। लेकिन अभी मनोविज्ञान के क्षेत्र में भारत की देन की अवहेलना हो रही है। यह आवश्यक है कि हम संसार के अन्य देशों का, विशेषकर पश्चिमी देशों का, ध्यान भारत में हुए मनोविज्ञान के विकास की ओर आकर्षित करें।"[1]

विद्वान लेखक ने अपने इस ग्रन्थ में भारतीय मनोविज्ञान के विकास की ऐतिहासिक रूपरेखा का विशद ढंग से विवेचन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारतीय मनोविज्ञान का विकास दर्शन के वैज्ञानिक स्वरूप क साथ अति प्राचीन काल से हुआ है। लेखक ने ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में यह विश्वास प्रकट किया है कि विश्व में मनोविज्ञान का भावी विकास भारतीय आध्यात्मिक मान्यताओं

---

1. डॉ. सीताराम जायसवाल–'मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा', पृष्ठ 3

के आधार पर होकर रहेगा।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि आज भारतीय मनोविज्ञान के अध्ययन एवं विकास की अत्यन्त आवश्यकता है। 'पश्चिमी मनोविज्ञान' के पुजारी 'भारतीय मनोवैज्ञानिक' अपने अज्ञान को यह कह कर छिपाते हैं कि भारत में मनोविज्ञान था ही नहीं। जो कुछ भारतीय मनोविज्ञान के नाम पर लिखा गया है वह वास्तव में भारतीय दर्शन है, मनोविज्ञान नहीं है। किन्तु इस मत के मानने वाले यह भूल जाते हैं कि भारतीय 'दर्शन' पश्चिम के 'फिलासफी' का पर्यायवाची शब्द नहीं है। पश्चिम में 'फिलासफी' कल्पना की उड़ान मानी जाती है। उसका तथ्यों एवं व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध नहीं रहता। भारतीय दर्शन जीवन का व्यवहार होता है। इसलिये भारतीय मनोविज्ञान जीवन–दर्शन का अभिन्न अंग है। भारतीय दृष्टिकोण से दर्शन और जीवन एक है। मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय जीवन के निमित्त सभी प्रकार के चेतन–अचेतन व्यवहार एवं चेष्टाएँ हैं। यही कारण है कि भारत में दर्शन और मनोविज्ञान अभिन्न विषय हैं।

आज के पश्चिमी मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि वैज्ञानिक प्रणाली के द्वारा जिसे प्रयोग द्वारा सिद्ध किया जा सके, वह वैज्ञानिक है। **आधुनिक पश्चिमी मनोविज्ञान वस्तुनिष्ठता (आब्जेक्टिविटी) को आधार मानता है। भारतीय मनोविज्ञान में जीवन के दोनों पक्षों, अन्तः और बाह्य में से अन्तःपक्ष की प्रधानता है।** अतः अन्तःपक्ष के अध्ययन की प्रणाली में व्यक्तिनिष्ठता (सब्जेक्टिविटी) भारतीय मनोविज्ञान की मान्यता के अनुसार उतनी ही प्रामाणिक है जितनी वस्तुनिष्ठता। आधुनिक मनोविज्ञान में फ्रायड और उसके अनुयायियों ने मानव–मन के विषय में जो कुछ ज्ञात किया, उसका आधार प्रचलित वैज्ञानिक प्रणाली नहीं है। यदि मनोविश्लेषण में वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग किया जाये तो कुछ भी ज्ञात नहीं होगा। वास्तविकता यह है कि विषय के अनुरूप अध्ययन की प्रणाली अपनानी पड़ती है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान भौतिक विज्ञान पर आधारित होने के कारण केवल इन्द्रिय–सापेक्ष ज्ञान को ही मानता है। भारतीय मनोविज्ञान में ज्ञान इन्द्रिय–निरपेक्ष तथा इन्द्रिय–मनः–सापेक्ष, दोनों ही प्रकार का माना गया है। भारतीय मनोविज्ञान में योगाभ्यास के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति ठीक दूसरे अभ्यासी के समान ही अनुभव प्राप्त कर सकता है, जो कि पूर्णतः वैज्ञानिक पद्धति है। भारतीय मनोविज्ञान की एक विशेषता और है कि इसके द्वारा मन की पूर्ण शक्तियों का ज्ञान तो प्राप्त होता ही है, साथ ही मन को विकसित करने की प्रणाली भी भारतीय मनोविज्ञान बताता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान मानव–मन की शक्तियों का ज्ञान भी अभी तक पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर सका है, उसके विकास की बात तो उसके क्षेत्र की सीमा के बाहर

मानी जाती है। श्री अरविन्द मन को छठी इन्द्रिय मानते हैं; उसके विकास को भारतीय शिक्षा–पद्धति का महत्वपूर्ण अंग मानते हैं। श्री अरविन्द ने कहा है, "पारेन्द्रिय ज्ञान (टेलीपैथी), अतीन्द्रिय दर्शन, अतीन्द्रिय श्रवण, पूर्वबोध पर विचार–ज्ञान, चरित्र–ज्ञान, आदि बहुत सी नयी विद्याऐं और खोजें मन की पुरानी क्षमताएँ हैं जिन्हें अविकसित छोड़ दिया गया है। ये सब मन की शक्तियाँ हैं। मानव–प्रशिक्षण में इस छठी ज्ञानेन्द्रिय के विकास को कोई स्थान नहीं मिला। भावी युग में निस्सन्देह इसे मानव मात्र के लिये आवश्यक प्राथमिक प्रशिक्षण में स्थान मिलेगा।"[1]

भारतीय शिक्षा–दर्शन के अनुसार जिस परिपूर्ण मानव का विकास शिक्षा के माध्यम से हमें करना है उसकी पूर्ति प्रचलित आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान नहीं कर सकता। पाश्चात्य मनोविज्ञान अपूर्ण है, अतः भारतीय शिक्षा–दर्शन के अनुरूप शिक्षा–पद्धति का आधार भारतीय मनोविज्ञान को ही बनाना पड़ेगा। भारतीय शिक्षा–दर्शन एवं भारतीय मनोविज्ञान पर आधारित शिक्षण–पद्धति ही भारत की राष्ट्रीय शिक्षण–पद्धति होगी। अतः भारतीय विद्वानों एवं मनोवैज्ञानिकों को इस तथ्य को स्वीकार कर प्रयास करना होगा। भारतीय मनोविज्ञान अपने में पूर्ण है। आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान से कहीं अधिक विस्तृत क्षेत्र भारतीय मनोविज्ञान तथा योग–मनोविज्ञान का है। **भारतीय मनोविज्ञान के अध्ययन से पाश्चात्य मनोविज्ञान की अपूर्णता की पूर्ति भी होगी और इस प्रकार शिक्षा जगत् को एक सर्वांगपूर्ण मनोविज्ञान उपलब्ध हो सकेगा।**

---

1. श्री अरविन्द–'शिक्षा के आयाम', पृष्ठ 12, श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी।

5

शिक्षा के भारतीय मनोवैज्ञानिक आधार

शिक्षा के क्षेत्र में भारतीय विचारधारा और संस्कृति की विषय–सामग्री को सम्मिलित कर देने मात्र से कोई शिक्षा भारतीय नहीं बन जाती। हमें भारत की उन मनोवैज्ञानिक पद्धतियों की खोज करनी होगी जो मनुष्य की उन नैसर्गिक शक्तियों एवं उपकरणों को सजीव बना देती हैं जिनके द्वारा वह ज्ञान को आत्मसात् करता है, नवीन सृष्टि करता है तथा मेधा, पौरुष और ऋतम्भरा प्रज्ञा का विकास करता है। उस विपुल बौद्धिकता, आध्यात्मिकता और अतिमानवीय नैतिकशक्ति का रहस्य क्या था, जिसे हम वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, प्राचीन दर्शन–शास्त्रों में, भारत के सर्वोत्कृष्ट काव्य, कला, शिल्प और स्थापत्य में स्पन्दित होते हए देखते हैं? हमें भारत के आत्मा, आदर्शों और उन पद्धतियों को अधिक प्रभावशाली और आधुनिकतम संगठन के रूप में जीवित करना होगा, जिनके आधार पर विकसित शिक्षा ही भारतीय शिक्षा होगी। इसी दृष्टि से यहाँ हम शिक्षा के भारतीय मनोवैज्ञानिक आधारों की संक्षेप में चर्चा कर रहे हैं।

मनुष्य की मूल प्रकृति आध्यात्मिक

भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य की मूल प्रकृति आध्यात्मिक है। प्रायः मनुष्य अपनी इस आध्यात्मिक प्रकृति की ओर सचेतन नहीं रहता आत्मा सत्, चित्त्, आनन्द स्वरूप है। इसी कारण मनुष्य के गहरे आध्यात्मिक स्तर पर परम सत्य की जिज्ञासा है, जिससे प्रेरित होकर मानव वैज्ञानिक अनुसंधान करता है और सत्य की अनवरत खोज में संलग्न है। ज्ञानरूपता में वह अपनी पूर्णता के दर्शन करना चाहता है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, अतः सुख की खोज मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है।

श्री अरविन्द के अनुसार, "मानव की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें एक ऐसी चेतना विद्यमान है जिसमें वह अपने सीमित भौतिक अस्तित्व से ऊपर उठ सकता है। यही विशेषता मनुष्य को पशु से भिन्न ठहराती है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य में एक ऐसा आध्यात्मिक तत्व विद्यमान है जोकि उसके भौतिक, प्राणिक और मानसिक पहलुओं से ऊँचा है। यह कारण शरीर है जो कि समस्त ज्ञान और आनन्द

का वाहक है। यही मनुष्य के भावी विकास का माध्यम है।"

मनुष्य की इस आध्यात्मिक प्रकृति के कारण ही उसने कला, संस्कृति, सदाचार और धर्म के रूप में अपने को अभिव्यक्त किया है। मनुष्य इस आध्यात्मिक प्रकृति के कारण अन्य जीवों से भिन्न ही नहीं है, वरन् उसमें यह भी शक्ति है कि वह अपने वातावरण को बदल सकता है। अन्य जीवों को विवश होकर भौतिक वातावरण को स्वीकार करके उसी में पड़े रहना पड़ता है; या तो वे अपने को उसके अनुकूल बना लें, या समाप्त हो जायें। मनुष्य की यह आध्यात्मिक प्रकृति उस पर ऊपर से लादी हुई नहीं है, वह तो उसके अस्तित्व का मूल तत्व है। इसीलिए जीवशास्त्रियों ने मनुष्य को जो उच्चतम जीव कहा है, वह अपर्याप्त है। वास्तव में मनुष्य आध्यात्मिक जीव है।

आधुनिक शिक्षा में मानव की इस आध्यात्मिक प्रकृति की घोर उपेक्षा की जा रही है। परिणामतः विकास की असीम संभावनाओं से वह पूर्णतः वंचित है तथा जीवन के उच्चस्तरीय आयामों में प्रवेश नहीं कर पा रहा है। अतः, भारतीय मनोविज्ञान के इस महत्वपूर्ण तत्व को शिक्षा का आधार बनाने की आवश्यकता है।

ज्ञान की प्रक्रिया

1. समस्त ज्ञान मनुष्य के अन्तर में

समस्त ज्ञान मनुष्य के अन्तर में स्थित है। भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान आत्मा का प्रकाश है। मनुष्य को बाहर से ज्ञान प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत् आत्मा के अनावरण से ही ज्ञान का प्रकटीकरण होता है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "मस्तिष्क को ऐसा कुछ भी नहीं सिखाया जा सकता जोकि जीव के आत्मा में सुप्त ज्ञान के रूप में पहले से ही गुप्त न हो।"[1] स्वामी विवेकानन्द ने भी इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है, **"मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।** ज्ञान मनुष्य में स्वभाव–सिद्ध है। कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब अन्दर ही है। हम जो कहते हैं कि मनुष्य 'जानता' है, यथार्थ में, मानवशास्त्र–संगत भाषा में हमें कहना चाहिए कि वह आविष्कार करता है, अनावृत या प्रकट करता है।"[2] अतः समस्त ज्ञान, चाहे वह भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक, मनुष्य के आत्मा में है। बहुधा वह प्रकाशित न होकर ढका रहता है,

---

1. श्री अरविन्द–'द सिन्थेसिस ऑफ योग', पृष्ठ 2
2. स्वामी विवेकानन्द–'शिक्षा', पृष्ठ 6

और जब आवरण धीरे–धीरे हट जाता है तो हम कहते हैं कि 'हम सीख रहे हैं।' जैसे–जैसे इस अनावरण की क्रिया बढ़ती जाती है, हमारे ज्ञान की वृद्धि होती जाती है।

जिस मनुष्य पर से यह आवरण उठता जाता है, वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी है, और जिस पर यह आवरण तह–पर–तह पड़ा हुआ है, वह अज्ञानी है। जिस पर से यह आवरण पूरा हट जाता है, वह सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी हो जाता है। चकमक पत्थर के टुकड़े में अग्नि के समान, ज्ञान छिपा हुआ है। सुझाव या उद्दीपक कारण ही वह घर्षण है, जो उस ज्ञानाग्नि को प्रकाशित कर देता है। सभी ज्ञान और सभी शक्तियाँ मनुष्य के आत्मा से ही प्रकट होती हैं।

इस प्रकार शिक्षा का लक्ष्य नये सिरे से कुछ निर्माण करना नहीं है, उसे तो मनुष्य में पहले से ही सुप्त शक्तियों का अनावरण और उनका विकास करना है।

2. अन्तःकरण चतुष्टय

ज्ञान–प्रक्रिया को समझने के लिये अन्तःकरण के स्वरूप और उसकी प्रकृति को समझना आवश्यक है। वेदान्त में अन्तःकरण के चार प्रकार एवं उनके कार्य इस प्रकार बताये गये हैं–

मनोबुद्धिरहंकारश्चितं करणमन्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे।।

"अन्तःकरण के चार रूप हैं– मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। मन से वितर्क और संशय होता है। बुद्धि निश्चय करती है। अहंकार से गर्व अर्थात् अहंभाव की अभिव्यक्ति होती है। चित्त में स्मरण होता है।" अन्तःकरण को मन भी कहा जाता है। योग–दर्शन में इसे 'चित्त' संज्ञा दी है।

मन का काम है विषय–वस्तु के बिम्ब को ज्ञानेन्द्रियों–दृष्टि, श्रुति, घ्राण, स्वाद, स्पर्श के माध्यम से प्राप्त करना और फिर उन्हें विचार–संवेदनों में अनूदित करके निर्णय हेतु बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत करना। चित्त मानसिक संस्कारों का अर्थात् स्मृतियों का भण्डार है। अहंकार विषय–वस्तु का अहं अर्थात् मैं, मेरा, अपने से सम्बन्ध जोड़ता है। बुद्धि मन के द्वारा प्रस्तुत विषय–वस्तु के बिम्ब का चित्त (स्मृति) और अहंकार के आधार पर विचार कर निर्णय अर्थात् प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। अन्तःकरण जड़ तत्व है। आत्मा के प्रकाश से ही अन्तःकरण द्वारा ज्ञान–प्रक्रिया सम्पन्न होती है।

3. ज्ञान–प्राप्ति के मार्ग

(1) प्रत्यक्ष ज्ञान – ज्ञानेन्द्रियों के विषय–सन्निकर्ष के आधार पर उत्पन्न

अन्तःकरण की वृत्ति स्वरूप अध्यवसाय को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों से चित्त (अन्तःकरण) सम्बन्धित होकर विषयाकार हो जाता है। चेतन पुरुष (आत्मा) का प्रकाश चित्त पर पड़ता है। चेतन से प्रकाशित चित्त अपनी वृत्तियों द्वारा विषय को प्रकाशित करता है। उस विषय का प्रकाशित होना ही उस विषय का ज्ञान कहलाता है।

(2) अनुमान ज्ञान – अनुमान का शाब्दिक अर्थ हुआ पीछे होने वाला ज्ञान, अर्थात् एक बात जानने के उपरान्त दूसरी बात का ज्ञान ही अनुमान हुआ। जैसे कहीं धुआँ उठ रहा है तो उसे देखकर हमें वहाँ अग्नि का अनुमान होता है। प्रातःकाल उठने पर आँगन के भीगे हुए होने पर रात्रि की वर्षा का अनुमान होता है। इस प्रकार के अनुमान से उत्पन्न ज्ञान भी यथार्थ ज्ञान माना जाता है। वास्तव में अनुमान भी प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण ही सम्भव है। हमने पहले अग्नि में से धुआँ निकलते हुए दृश्य का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर लिया था, तभी हमने धुआँ देखकर अग्नि की उपस्थिति का अनुमान कर लिया। अनुमान ज्ञान मुख्यतः बौद्धिक तर्क पर आधारित होता है।

(3) शब्द ज्ञान – जिन विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता, उनके यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने के लिये हमें शब्द प्रमाण का सहारा लेना पड़ता है। कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसने उस विषय का प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसके द्वारा उपदेश से सुनकर, अथवा लिपिबद्ध है तो पढ़कर, उस विषय का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसी शब्द से अर्थ का विषय करने वाली चित्त की वृत्ति को शब्द से प्राप्त ज्ञान कहते हैं। यहाँ यह बात महत्वपूर्ण है कि कोई भी विषय सुनने से अथवा पढ़ने मात्र से हमारे ज्ञान का अंग नहीं बनता। वही विषय हमारे ज्ञान का अंग बनता है जिसके अर्थ का हमें बोध होता है, क्योंकि चित्त विषय के अर्थ से विषयाकार होता है, शब्द से नहीं। चित्त के विषयाकार होने से ही ज्ञान का संस्कार होता है, जोकि हमारी स्मृति का अंग बन जाता है। शिक्षण–प्रक्रिया में यह बात ध्यान देने योग्य है।

सारांश यह है कि चित्त के विषयाकार होने से ही ज्ञान होता है, चाहे वह प्रत्यक्ष से हो, अनुमान से हो, अथवा शब्द से।

(4) अन्तर्ज्ञान – अन्तर्ज्ञान मन और यथार्थ वस्तु के बीच घनिष्ठ ऐक्य से पैदा होता है। यह वस्तुओं के साथ तादात्म्य के द्वारा सत्य का ज्ञान है। अन्तर्ज्ञान जो कुछ प्रकट करता है वह एक सिद्धान्त उतना नहीं, जितना कि चेतना होता है। वह मन की एक स्थिति होती है, न कि ज्ञेय वस्तु का लक्षण। भाषा और तर्क ज्ञान के घटिया रूप हैं। ज्ञान वास्तव में ज्ञाता और ज्ञेय के बीच साधन और सन्निकट ऐक्य है। विचार उसे आंशिक रूप में प्रकट और प्रस्तुत करने के साधन हैं। उदाहरण के लिए क्रोध के भाव को लीजिए। इन्द्रियों के द्वारा इसका प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं

है। बुद्धि तर्क के द्वारा क्रोध की मानसिक स्थिति का विश्लेषण करने में असक्षम है। क्रुद्ध होने का अर्थ क्या है, यह हम स्वयं क्रुद्ध होकर ही जान सकते हैं। कोई भी व्यक्ति मानवीय प्रेम या पितृवात्सल्य की प्रबलता को तब तक नहीं जान सकता जब तक कि वह स्वयं उन भावों में से न गुजरे। ज्ञेय वस्तु के साथ तादात्म्य से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वही एकमात्र सच्चा और सीधा ज्ञान होता है, शेष सब ज्ञान अनुमानिक होता है।

एकाग्रता

ज्ञान की प्राप्ति के लिये केवल एक ही मार्ग है और वह है 'एकाग्रता'। मन की एकाग्रता ही सम्पूर्ण शिक्षा का सार है। एकाग्रता की शक्ति जितनी अधिक होगी, ज्ञान की प्राप्ति भी उतनी ही अधिक होगी। एक ही विषय पर ध्यान देने का नाम है एकाग्रता। मन में सदैव संकल्प–विकल्प पानी की लहरों के समान उत्पन्न होते रहते हैं। मन या चित्त अति चंचल होता है। निरन्तर बाह्य विषयों में प्रवृत्त होता रहता है। ऐसा चित्त अशान्त और अस्थिर बना रहता है। चित्त की इस बिखरी हुई शक्ति से कोई कार्य सम्पादित नहीं होता। प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने चित्तवृत्ति–निरोध को शिक्षा का लक्ष्य माना। वास्तव में चित्त ही शिक्षा का वाहन है। राजयोग में धारणा, ध्यान और समाधि एकाग्रता के ही क्रमिक स्तर हैं। समाधि पूर्ण एकाग्रता की स्थिति है जहाँ ज्ञानस्वरूप आत्मा का दर्शन होकर विषय का यथार्थ ज्ञान होता है। व्यक्ति अपनी मूल प्रकृति आध्यात्मिकता से जुड़ जाता है और ज्ञान के उच्चतम स्तर पर पहुँच जाता है। "चरम विवेक, सत्य का अन्तर्भासात्मक दर्शन, वाणी को प्राप्त पूर्ण अन्तःप्रेरणा, ज्ञान का ऐसा प्रत्यक्ष दर्शन जो प्रायः अन्तःप्रकाश तक पहुँच जाता है और मनुष्य सत्य का द्रष्टा बन जाता है।"

पातंजल योग–सूत्र में चित्त की पांच अवस्थाएँ मानी गयी हैं। मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। मन (चित्त) की रजोगुण–प्रधान अवस्था क्षिप्त रहती है। इसमें मन की चंचलता या अस्थिरता की स्थिति रहती है। मूढ़ावस्था चित्त की तमःप्रधान अवस्था है। इस अवस्था में मनुष्य निद्रा, तन्द्रा, मोह, भय, आलस्य, क्रोध आदि के वशीभूत होकर विवेकशून्य होने के कारण उचित–अनुचित का विचार नहीं कर पाता। मनोविज्ञान की दृष्टि से अधिकांश छात्र सामान्यतः क्षिप्त या मूढ़ावस्था में ही मिलते हैं।

विक्षिप्तावस्था सत्वप्रधान अवस्था है। इसमें अन्य दोनों गुण रजस और तमस गौण रूप से रहते हैं। विक्षिप्तावस्था में व्यक्ति में चित्त की आंशिक स्थिरता रहती

है। इस स्थिति में वह प्रसन्नता, उत्साह, क्षमा, ज्ञान, आदि उच्च विचारों की ओर प्रवृत्त होता है। इस अवस्था में प्राप्त किया हुआ ज्ञान अक्षय होता है।

एकाग्रावस्था में चित्त विशुद्ध सत्वरूप होता है। इस अवस्था में चित्त एक ही विषय में लीन रहता है। निरुद्धावस्था में चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। यह ज्ञान की पराकाष्ठा की अवस्था है। इस अवस्था में ज्ञान के लिए किसी आलम्बन की आवश्यकता नहीं होती। इस स्थिति को प्राप्त व्यक्ति सत्य का द्रष्टा बन जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान मन की इस अवस्था से पूर्णतः अनभिज्ञ है। वर्तमान शिक्षा के क्षेत्र में मन की प्रथम तीन अवस्थाओं का ही प्रयोग किया जा रहा है।

भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार इस एकाग्रता की स्थिति ध्यानयोग के अभ्यास से प्राप्त होती है। इस विषय पर हम योग के प्रकरण में विस्तार से विचार करेंगे। योगाधारित शिक्षा ही वास्तविक शिक्षा है। योगाभ्यास से प्राप्त एकाग्रता की शक्ति ही ज्ञान के कोष की कुंजी है। ज्ञानार्जन के लिये निम्नतम श्रेणी के मनुष्य से लेकर उच्चतम वैज्ञानिक तक को इसी मार्ग का अवलम्बन करना पड़ता है। एकाग्रता के कारण ही समस्त ब्रह्माण्ड के रहस्य खुलते हैं।

ब्रह्मचर्य

प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति के मूल में सबसे महत्वपूर्ण वस्तु थी ब्रह्मचर्य का अभ्यास। भारतीय चिन्तन के अनुसार जीवन और प्राण–शक्ति का मूल स्रोत भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है; किन्तु जिस आधारशिला पर जीवन–शक्ति–क्रिया–शील होती है, वह भौतिक है। यूरोपीय जड़वाद की मूलभूत भूल यह है कि वह भौतिक आधार को ही सब कुछ मान लेता है और उसे ही शक्ति का मूल स्रोत समझता है। भारतीय चिन्तन में कारण और आधार का स्पष्ट भेद समझा गया है। भारतीय चिन्तन में शक्ति का कारण आत्मा और स्थूल या भौतिक तत्व उसका आधार माना है। श्री अरविन्द के अनुसार, "भौतिक तत्व का आध्यात्मिक सत्ता में उत्कर्षण ही ब्रह्मचर्य है।"[1] भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार मूलभूत भौतिक इकाई रेतस् है। मनुष्य के अन्तःस्थित इस रेतस् में समस्त ऊर्जा विद्यमान है। यह शक्ति या तो स्थूल भौतिक रूप में व्यय की जा सकती है या सुरक्षित रखी जा सकती है। समस्त मनोविकार, भोगेच्छा, कामना, इस शक्ति को स्थूल रूप में या सूक्ष्मतर रूप में शरीर से बाहर फेंककर नष्ट कर देते हैं। अनैतिक आचरण उसे स्थूल रूप में बाहर फेंकता है,

---

1. श्री अरविन्द– 'शिक्षा के आयाम', पृष्ठ 47

अनैतिक विचार सूक्ष्म रूप में। **अब्रह्मचर्य जैसे शारीरिक होता है, वैसे ही मानसिक और वाचिक** भी। दक्ष संहिता में अब्रह्मचर्य के आठ प्रकार बताये हैं–

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिवृत्तिरेव च।।
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेंतदेवाष्ट लक्षणम्।।

स्मरण, चर्चा, क्रीड़ा, दर्शन, एकान्त में (स्त्री से) बातचीत करना, भोगेच्छा, सम्भोग–निश्चय और सम्भोग–क्रिया – ये आठ प्रकार के मैथुन हैं, जिनके विपरीत आचरण करना ही ब्रह्मचर्य है।

समस्त आत्मसंयम रेतस् में निहित ऊर्जा की रक्षा करता है और रक्षा के साथ सदा वृद्धि होती रहती है। भारतीय सिद्धान्त के अनुसार रेतस् जल तत्व है जो प्रकाश, ऊष्मा और विद्युत से परिपूर्ण है। रेतस् का संचय सर्वप्रथम ऊष्मा या तपस् में परिवर्तित होता है जो सारे शरीर को प्रदीप्त करता है। इसी कारण आत्म संयम के सभी रूप तपस् या तपस्या कहलाते हैं। यह तपस् (ऊष्मा) ही समस्त शक्तिशाली कर्म और सिद्धि का मूल स्रोत है। यह रेतस् जल से तपस् में, तेजस् में और विद्युत् में तथा विद्युत् से ओजस में परिष्कृत होकर शरीर को शारीरिक बल, ऊर्जा और मस्तिष्क को शक्ति से भर देता है। वह ओजस् ही ऊर्ध्वगामी होकर मस्तिष्क को उस मूल ऊर्जा से अनुप्राणित कर देता है जो भौतिक तत्व का सबसे परिष्कृत रूप है और जो आत्मा के सबसे अधिक निकट है। उस ओजस् ही का नाम 'वीर्य' अर्थात् आध्यात्मिक शक्ति है जिसके द्वारा मनुष्य आध्यात्मिक ज्ञान और आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त करता है।

भारतीय शिक्षा का मूल आधार ब्रह्मचर्य–पालन है, जोकि प्रत्येक शिक्षार्थी के लिये अपरिहार्य है। प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति के अनुसार तो विद्याध्ययनकाल ही ब्रह्मचर्य आश्रम कहलाता था। स्वामी विवेकानन्द जी ने भी शिक्षा प्राप्त करने के लिये ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक बताया है। उन्हीं के शब्दों में, "पूर्ण ब्रह्मचर्य से प्रबल बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है। वासनाओं को वश में कर लेने से उत्कृष्ट फल प्राप्त होते हैं। कामशक्ति को आध्यात्मिक शक्ति में परिणत कर लो। यह शक्ति जितनी प्रबल होगी, उससे उतना ही अधिक कार्य कर सकोगे। ब्रह्मचारी के मस्तिष्क में प्रबल कार्य–शक्ति और अमोघ इच्छा–शक्ति रहती है। पावित्र्य के बिना आध्यात्मिक शक्ति नहीं आ सकती।"[1]

---

1. स्वामी विवेकानन्द– 'शिक्षा', पृष्ठ 15

ज्ञान बौद्धिक प्रक्रिया है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, अहंकार आदि मन के विकारों से बुद्धि आच्छादित हो जाती है, अर्थात् ज्ञान–शक्ति का नाश हो जाता है। गीता में कहा है–

ध्यायतो विषान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

अर्थात्–विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है और आसक्ति से विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अविवेक अर्थात् मूढ़ भाव उत्पन्न होता है और अविवेक से स्मरण–शक्ति भ्रमित हो जाती है। स्मृति भ्रमित हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान–शक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश होने से वह पुरुष अपने श्रेय–साधन से गिर जाता है।"[1]

ज्ञान की प्रक्रिया की सफलता हेतु मन को इन विकारों से बचाये रखना परम आवश्यक है। इसीलिये प्राचीन भारतीय शिक्षा में ब्रह्मचर्य का पालन महत्वपूर्ण था। ब्रह्मचर्य कोई प्राचीन रूढ़ि नहीं है। यह संयम और साधना का सनातन मन्त्र है। संयम और साधना की पीठिका पर ही ज्ञान की साधना संभव होती है। ये सब अध्यात्म की अभिव्यक्ति के रूप हैं। इसी अध्यात्म के द्वारा उत्तम शिक्षा एवं श्रेष्ठ प्रतिभा का विकास संभव है। शिक्षा, विद्या, साहित्य, विज्ञान, कला आदि क्षेत्रों में जिन महान् पुरुषों ने कुछ श्रेष्ठ उपलब्धियाँ की हैं, उनको यह सफलता इसी साधना के आधार पर मिली है।

कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिकों एवं चिकित्सकों का यह कथन है कि काम–प्रवृत्ति के दमन से अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है। इनके अनुसार ब्रह्मचर्य शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के लिये घातक है। किन्तु कुछ विद्वानों का मत इसके विपरीत है। सत्य तो यह है कि मन पर नियन्त्रण न होने से शरीर तथा इन्द्रियों के व्यवहार को ही केवल नियन्त्रित करने से हानि पहुँचने की सम्भावना है।

ब्रह्मचर्य का ढोंग और ब्रह्मचर्य– दोनों में बहुत भेद है। गीता में भी श्रीकृष्ण ने कहा है कि "जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठ से रोककर इन्द्रियों के भोगों का मन से चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।"

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।[2]

---

1. गीता – 2/62–63
2. गीता – 3/6

अतः ब्रह्मचर्य–पालन के लिये मन का नियन्त्रण आवश्यक है। वास्तव में ब्रह्मचर्य–पालन शारीरिक की अपेक्षा मानसिक अधिक है। इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण, सात्विक विचार और सात्विक आहार ब्रह्मचर्य–पालन के अनिवार्य अंग हैं। संयम से ही ब्रह्मचर्य–पालन सम्भव है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य से जीवन में अदम्य उत्साह, शारीरिक बल, बौद्धिक शक्ति उत्पन्न होती है जो ज्ञान–प्राप्ति के लिए आवश्यक है। भौतिकता पर आधारित पाश्चात्य मनोविज्ञान में तो ब्रह्मचर्य की संकल्पना ही नहीं है। भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार ज्ञानार्जन एवं बालक के व्यक्तित्व का विकास ब्रह्मचर्य–पालन के बिना आकाश–कुसुम के समान है।

अतः आधुनिक शिक्षा–जगत् के लिये यह विचारणीय विषय है। आज ब्रह्मचर्य के अभाव के कारण हमारे देश की तरुणाई निस्तेज है और दिव्य शक्ति नष्ट–प्रायः हो रही है। क्षात्रतेज एवं ब्रह्मतेज से ओतप्रोत भारत की युवा शक्ति जब जाग्रत होगी, तभी तेजस्वी भारत का निर्माण होगा, जो विश्व का आध्यात्मिक दिशा–निर्देशन करने में समर्थ होगा।

संस्कार–सिद्धान्त

भारतीय ऋषियों ने मानव के अवचेतन मन के क्षेत्र का ज्ञान अति प्राचीन काल में प्राप्त कर लिया था, जिसका पूर्ण ज्ञान पाश्चात्य मनोविज्ञान को अभी तक प्राप्त नहीं है। अवचेतन मनोविज्ञान (Depth Psychology) के द्वारा किये गये अन्वेषणों के बहुत पहले ऋषियों को यह ज्ञान उपलब्ध हो गया था कि मनुष्य की समस्त क्रियाओं, विचारों तथा उद्वेगों आदि का कारण उनकी अवचेतन अवस्थाएँ हैं। भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार इस अवचेतन को बनाने वाले घटक 'संस्कार' हैं जिन्हें अवचेतन मनोविज्ञान संसेचन (Impregnation), काम–प्रसुप्ति (Latency), अवशेष (Residues) आदि नामों से जानता है। भारतीय मनोविज्ञान में इन संस्कारों का आधुनिक मनोविज्ञान के समान केवल ज्ञान के लिये अन्वेषण नहीं किया गया, अपितु उनके ऊपर पूर्ण रूप से नियन्त्रण स्थापित करने की प्रक्रिया का भी ज्ञान प्राप्त किया गया है।

चित्त की वृत्तियाँ चित्त में अपने समान ही छाप छोड़ जाती हैं। इन वृत्तियों के अनुरूप छाप को ही संस्कार कहते हैं। इन्हीं संस्कारों को आधुनिक मनोवैज्ञानिक पर्सीनन ने 'एनग्राम' (Engram) कहा है। संस्कार ज्ञानात्मक (Cognitive), भावात्मक (Affective) और क्रियात्मक (Conative) – तीन प्रकार के होते हैं। भारतीय मनोविज्ञान में इन तीन प्रकार के संस्कारों के अतिरिक्त पूर्व जन्म तथा जन्म से पूर्व

गर्भावस्था के संस्कार भी होते हैं जिन्हें वासनाएँ भी कहते हैं जो हमारी रुचियों तथा प्रवृत्तियों को बताती हैं। इस जन्म के अनुभव ज्ञानज संस्कार, उद्वेग भावात्मक संस्कार तथा क्रियाएँ कर्म–संस्कार छोड़ जाती हैं। स्मृति का कारण ये ज्ञानज संस्कार ही हैं। ये सब ज्ञानज संस्कार अवचेतन अवस्था में होते हैं जो उपयुक्त परिस्थिति में चेतनावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। कुछ ज्ञानज संस्कार सदैव ही अवचेतन बने रहते हैं। इन्हें चेतन में लाने के लिये योग में विधि बतायी है। आधुनिक मनोविज्ञान ने भी अनेक विधियाँ बताई हैं, परन्तु योग की विधियों के समान उन्हें चेतन के घटक बनाने में सफलता प्राप्त नहीं की। ज्ञानज संस्कार केवल स्मृति ही प्रदान नहीं करते, अपितु संवेदनाओं को अर्थ प्रदान करने का कार्य भी करते हैं। ज्ञानज संस्कारों को आधुनिक मनोविज्ञान के सम्प्रत्यक्ष (apperception) शब्द के समकक्ष माना जा सकता है। हमारी चेतना में नवीन तत्वों के अर्थ संस्कारों के उस क्षेत्र पर आधारित होते हैं जिससे वे सम्बन्धित होते हैं। स्मृति अनुभव के विषयों की ही होती है। ये संस्कार इसी जन्म के अनुभवों के नहीं होते, अपितु असंख्य जन्मों के संस्कार चित्त में रहते हैं। जब जिन संस्कारों को जाग्रत करने वाले साधन उपस्थित होते हैं, तब वे ही संस्कार उदय हो जाते हैं। चित्त की एकाग्रता, सहचर–दर्शन आदि अनेक साधन हैं जिनमें से किसी एक की उपस्थिति में संस्कार–विशेष जाग्रत होकर तत्सम्बन्धी स्मृति प्रदान करता है।

स्मृति केवल ज्ञानज संस्कारों की ही होती है, अन्य संस्कारों की नहीं। संस्कार तो भावनाओं, संवेगों तथा कर्मों के भी होते हैं, किन्तु उनकी स्मृति नहीं होती। भावनाएँ एवं संवेग हमारी क्रियाओं के प्रेरक हैं। इनके संस्कार भी चित्त पर अंकित हो जाते हैं। संवेग के संस्कार संवेग को ही उत्पन्न करते हैं तथा भावनाओं के संस्कार भावनाओं को ही उत्पन्न करते हैं। हमारे समस्त कर्मों के भी संस्कार होते हैं। इन्हें कर्माशय (Conative Disposition) कहा जाता है। शुभ कर्मों से धर्म और अशुभ कर्मों से अधर्म उत्पन्न होता है। ये धर्म–अधर्म रूप कर्माशय ही जन्म, आयु और भोग उत्पन्न करते हैं। इन कर्माशयों से युक्त चित्त जीवात्मा सहित पूर्व जन्म के शुभ–अशुभ कर्मों की वासनाओं से एक देह से दूसरी देह को धारण करता रहता है। इस प्रकार ज्ञानज संस्कार स्मृति को, भावात्मक संस्कार, क्लेशों को तथा संवेगों को और कर्माशय जाति, आयु और भोगों को उत्पन्न करते हैं। ये सब संस्कार चित्त के ही धर्म हैं।

कर्म–संस्कार तीन प्रकार के माने गये हैं– संचित, प्रारब्ध, क्रियामाण। संचित कर्म वे कर्म हैं जो केवल संस्कार रूप से विद्यमान हैं, किन्तु उनके फल भोगने की अवधि नहीं आयी है। ये कर्म जन्म–जन्मान्तरों के हैं। प्रारब्ध कर्म वे हैं जिनको भोगने के लिये हमें वर्तमान जाति (जन्म) और आयु प्राप्त हुई हैं। क्रियामाण कर्म वे हैं जिन्हें

हम इस जन्म में नवीन कर्मों के द्वारा संग्रह करते हैं। भारतीय जीवन–दर्शन का पुनर्जन्म एवं कर्म–सिद्धान्त और भारतीय मनोविज्ञान का यह कर्म–संस्कार–सिद्धान्त अन्योन्याश्रित है।

ज्ञानज संस्कार, भावना–संस्कार एवं कर्म–संस्कार भले ही एक दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु ये परस्पर सम्बन्धित हैं। इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। ये ज्ञान, इच्छा और क्रिया के ही शक्तिरूप हैं। ज्ञान से इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छा क्रिया की प्रेरक होती है। इस प्रकार इन तीनों प्रकार के संस्कारों की प्रक्रिया चलती है।

संस्कार सिद्धान्त में यह बात भी महत्वपूर्ण है कि कोई भी संस्कार नष्ट नहीं होता, चाहे वह ज्ञानज संस्कार हो, संवेगात्मक हो अथवा कर्म–संस्कार हो। वे सभी अवचेतन अवस्था में दबे पड़े रहते हैं। उद्दीपन की परिस्थिति प्राप्त होते ही वे चेतनावस्था में आ जाते हैं। इसीलिये जीवन में कुसंस्कार समस्या बने रहते हैं। कुसंस्कार को अच्छे संस्कारों के द्वारा केवल प्रभावहीन बनाया जा सकता है तथा यह प्रयास करना पड़ता है कि कुसंस्कारों को उद्दीप्त करने वाले वातावरण से बचा जाय। यह प्रयास ज्ञानपूर्वक आत्मनिर्देशन के द्वारा ही सफल होता है, बलपूर्वक सम्भव नहीं होता। योग में अभ्यास के द्वारा संस्कारों को दग्धबीज किया जाता है। जिस प्रकार जले हुए बीज खेत में बोने पर अंकुरित नहीं होते, उसी प्रकार दग्धबीज संस्कार भी प्रभावहीन हो जाते हैं। यह योगाभ्यास की उच्च अवस्था में ही सम्भव होता है।

भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार संस्कार–सिद्धान्त शिक्षा का मूलाधार है। संस्कारों के आधार पर ही शिक्षा के द्वारा बालक का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास होता है। अधिगम की सम्पूर्ण क्रिया इस संस्कार–सिद्धान्त पर ही आधारित है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने चूहों और कुत्तों पर प्रयोग करके अधिगम के विभिन्न सिद्धान्त निर्धारित किये हैं। भारतीय मनोविज्ञान में अधिगम के समस्त सिद्धान्त इन संस्कार–सिद्धान्तों के आधार पर सहस्रों वर्ष पूर्व सफलता पूर्वक प्रयुक्त किये जा चुके हैं।

वास्तव में शिक्षा स्वयं संस्कार–प्रक्रिया है। आधुनिक शिक्षा–प्रणाली में संस्कार–सिद्धान्त की घोर उपेक्षा की जा रही है, परिणामतः शिक्षा निष्फल हो रही है। अतः शिक्षा का आधार संस्कार–सिद्धान्त को बनाने की आवश्यकता है। ज्ञान के उपार्जन और बुद्धि के विकास में ही नहीं, बालकों के नैतिक चरित्र एवं सांस्कृतिक व्यक्तित्व के निर्माण में भी संस्कारों का बहुत महत्व होता है। हिन्दू समाज में सोलह संस्कारों की परम्परा मानव–प्रकृति के सांस्कृतिक उन्नयन की प्रक्रिया ही थी। समाज में यह संस्कार–परम्परा भी अब ढ़ीली पड़ती जा रही है। उधर संस्कारों से

शून्य शिक्षा नयी पीढ़ियों को मन से हीन बना रही है। अतः आज गम्भीर चिन्तन करने की एवं वर्तमान स्थिति में सुधार लाने हेतु उपाय करने की आवश्यकता है। **समाज और शिक्षालयों में नैतिक और सांस्कृतिक संस्कारों का वैभव बढ़ने पर ही स्वतन्त्र भारत एक गौरवशाली राष्ट्र बन सकता है।**

व्यक्तित्व

व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास शिक्षा और मनोविज्ञान का मूल विषय है। आधुनिक मनोविज्ञान में व्यक्तित्व के अध्ययन को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है, किन्तु व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने वाली परिभाषा आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के द्वारा इसके अध्ययन के प्रति जागरुक रहते हुए भी अभी तक नहीं दी जा सकी है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों में प्रो. आलपोर्ट ने व्यक्तित्व की जो परिभाषा दी है, वह अधिक मान्य है। इनके अनुसार, "व्यक्तित्व व्यक्ति की उन मनोशारीरिक पद्धतियों का वह आन्तरिक गत्यात्मक संगठन है जो कि पर्यावरण में उसके अनन्य समायोजन को निर्धारित करता है।"[1] आधुनिक मनोविज्ञान व्यक्तित्व को केवल शरीर और मन का योग मानता है। "भारतीय दर्शन में व्यक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आत्मा का उल्लेख किया गया है। मनुष्य न केवल शरीर है, बल्कि उसके भीतर एक ऐसी प्राण–शक्ति है जो आध्यात्मिक स्वरूप रखती है। दूसरे शब्दों में, मानव शरीर और आत्मा का एक समग्र पुंज है। मनुष्य के केवल शारीरिक, बौद्धिक अथवा भावात्मक व्यवहारों से उसके व्यक्तित्व का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता।"[2]

आधुनिक मनोविज्ञान ठीक–ठीक यह नहीं बता पाता है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से क्यों भिन्न है? वह अपना विशिष्ठ व्यक्तित्व क्यों रखता है? भौतिकवाद के ऊपर आधारित मनोविज्ञान व्यक्तित्व के विषय में बहुत से प्रश्नों के उत्तर नहीं दे पाता। उसके अनुसार तो मृत्यु के साथ व्यक्ति और व्यक्तित्व दोनों समाप्त हो जाते हैं। किन्तु अनुभव से वह सत्य सिद्ध नहीं होता। महान् आध्यात्मिक व्यक्तियों के व्यक्तित्व की उपस्थिति आज भी अनुभव होती है। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, विवेकानन्द, गांधी आदि महापुरुषों का व्यक्तित्व आज भी विद्यमान है। श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी में श्री अरविन्द एवं श्री माँ की उपस्थिति उनके शरीरान्त के

---

1. प्रो. जी. डब्ल्यू. आलपोर्ट–'पर्सनलिटी', पृष्ठ 45
2. डॉ. सीताराम जायसवाल–'व्यक्तित्व सिद्धान्त', बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, पृष्ठ 1

पश्चात् आज भी प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है।

अतः स्थूल शरीर के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी व्यक्तित्व विद्यमान रहता है, यह भारतीय मनोविज्ञान की मान्यता तो है ही, हमारा अनुभव भी यही बताता है।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व को वंश–परम्परा तथा वातावरण के द्वारा प्रभावित होने वाला मानते हैं। उनका कहना है कि व्यक्तियों में भिन्नता वंश–परम्परा एवं वातावरण के कारण है। व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक वाट्सन तो वातावरण को ही व्यक्तित्व का प्रधान निर्धारक मानते हैं। भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्तित्व के मुख्य निर्धारक तत्व व्यक्ति के संस्कार हैं। व्यक्ति के पूर्व–जन्मों के एवं वर्तमान जन्म के संस्कार मिलकर व्यक्तित्व का निर्धारण करते हैं। भारतीय मनोविज्ञान में व्यक्तित्व के सर्वांगपूर्ण स्वरूप का चिंतन हुआ है। यहाँ व्यक्तित्व के स्वरूप के साथ उसके सर्वांगपूर्ण विकास की पद्धति भी विकसित हुई है। महर्षि पतंजलि के अष्टांग योग ने एवं आधुनिक काल में श्री अरविन्द के सर्वांगीण योग ने सामान्य जीवन को विकास के उच्चतम स्तर पर ले जाकर दिव्य जीवन में रूपान्तरित करना संभव बना दिया है।

श्री अरविन्द के अनुसार, "जीवन में मनुष्य का समस्त कर्म अन्तरात्मा की उपस्थिति और प्रकृति की क्रियाओं (दोनों) की अर्थात् पुरुष और प्रकृति की ग्रंथि है। पुरुष की उपस्थिति एवं उसका प्रभाव प्रकृति में हमारी सत्ता की एक विशेष शक्ति के रूप में अपने आपको प्रकट करता है।"[1] भारतीय मनोविज्ञान में इसी को व्यक्तित्व कहा गया है जो आत्मा के प्रभाव से हमारी प्रकृति में शक्ति के रूप में प्रकट होता है। सामान्य मनुष्य, जो विकास की साधारण कोटि तक पहुँचा होता है, उसकी यान्त्रिक प्रकृति चिन्मय सत्ता (पुरुष) अर्थात् आत्मा को सीमित और परिच्छिन्न कर लेती है। जो मनुष्य प्रबलतर शक्ति से सम्पन्न होते हैं उनमें आत्मा की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में ऊपरी सतह पर आयी होती है और वे एक ऐसे व्यक्तित्व का विकास कर लेते हैं जिसे महान या शक्तिशाली कहा जाता है।

वास्तव में मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसकी चेतना के विकास पर आधारित है। जैसे–जैसे चेतना का ऊर्ध्वगमन होता है, मनुष्य का व्यक्तित्व खिल उठता है।

व्यक्तित्व का सर्वांगपूर्ण स्वरूप–पंचकोश

उपनिषदों में, जो भारतीय मनोविज्ञान के आधार हैं, व्यक्तित्व के अग्रलिखित पांच स्तरों का उल्लेख मिलता है। श्री अरविन्द ने भी इन्हीं के आधार पर मानव

---

1. श्री अरविन्द–'योग समन्वय', उत्तरार्ध, पृष्ठ 856

व्यक्तित्व के पाँच सोपान बताये हैं–

(1) अन्नमय कोश, (2) प्राणमय कोष, (3) मनोमय कोश, (4) विज्ञानमय कोश, (5) आनन्दमय कोश।

अन्नमय कोश भौतिक शरीर है। इसे स्थूल शरीर भी कहते हैं। मनुष्य का शरीर एवं इन्द्रियाँ इस अन्नमय कोश के अंग हैं। यह अन्न से बने हुए रज–वीर्य से उत्पन्न होता है और उसी से बढ़ता है। इसी कारण इसका नाम अन्नमय कोश है। इसके पश्चात् दूसरा प्राणमय कोश है। प्राणिक शरीर भौतिक शरीर में स्थित जीवन को बनाये रखता है। यह जैविक एवं भावात्मक शक्तियों का स्रोत है। शरीर की समस्त क्रियाएँ इसी के द्वारा संचालित होती हैं।

प्राणमय कोश से अधिक सूक्ष्म तीसरा कोश मनोमय कोश है। यह मन, ज्ञानेन्द्रियों और तन्मात्राओं का धारक है। यह अन्नमय एवं प्राणमय कोशों में संकलन बनाये रखने का कार्य करता है। मन के संकल्प और विकल्प आदि का सम्बन्ध मनोमय कोश से है। यह भौतिक शरीर के विभिन्न इन्द्रियानुभवों एवं संवेदनाओं को ग्रहण करता है एवं सभी कोशों मे ंपरस्पर सम्बन्ध स्थापित करता है।

मनोमय कोश से भी सूक्ष्म एवं व्यापक विज्ञानमय कोश है। विज्ञानमय कोश निश्चयात्मक बुद्धि का स्तर है। यह अन्तर–प्रज्ञा अर्थात् सहज ज्ञान का अधिष्ठान है। अन्तिम पाँचवां कोश आनन्दमय कोश है। इसी में प्रकाशरूप जीवात्मा अवस्थित है। इसे कारण शरीर, हिरण्मय कोश, लिंग शरीर भी कहते हैं। पुराणों में इसे 'ज्योतिर्लिंग' के नाम से कहा है।

इस प्रकार भारतीय मनोविज्ञान में व्यक्तित्व के विकास के स्तर शरीर से आत्मा की ओर अर्थात् भौतिक पक्ष से आध्यात्मिक स्तर तक हैं। श्री अरविन्द ने आत्मा के लिये 'चैत्य' शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार सर्वांगीण व्यक्तित्व के विकास का केन्द्र–बिन्दु 'चैत्य' चेतना है।

अतः व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का बाह्य पक्ष भौतिक, प्राणिक एवं मानसिक सोपानों पर आधारित है। व्यक्तित्व के आन्तरिक पक्ष का विकास आध्यात्मिक चेतना के जागरण पर प्रारम्भ होता है। पश्चिमी मनोविज्ञान मन के घेरे से बाहर निकलने में असमर्थ है। उनके मत से 'मानस' ही सर्वोच्च मानवीय तत्व है। भारतीय चिन्तन में व्यक्तित्व में मानस को नहीं, बल्कि आत्मा को सर्वोच्च तत्व माना है।

व्यक्तित्व के भेद

भारतीय चिन्तन में व्यक्तित्व के भेद अनेक प्रकार से किये गये हैं। आयुर्वेद में वात, पित्त, कफ़ के आधार पर, वात–प्रधान, पित्त–प्रधान, एवं कफ–प्रधान तीन प्रकार के व्यक्ति बताये गये हैं, जिनके अनुसार उनका स्वास्थ्य, शरीर की बनावट,

स्वभाव तथा व्यवहार होता है। योग में चित्त के आधार पर व्यक्तित्व का विभाजन कर मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध के भेद से पाँच प्रकार के व्यक्ति बताये हैं जिनका विवेचन पूर्व–प्रकरण में किया जा चुका है।

गीता में सांख्ययोग प्रतिपादित त्रिगुणात्मक प्रकृति के आधार पर व्यक्तित्व के भेद बताये गये हैं सत्व, रजस् और तमस्–इन तीन गुणों में जिस एक गुण की प्रधानता अन्य दो गुणों की अपेक्षा होती है, उसी के आधार पर व्यक्तित्व का निध ारिण होता है। इन तीनों गुणों का अनुपात भिन्न–भिन्न व्यक्तियों में भिन्न–भिन्न प्रकार का है। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न होता है। गीता में इन तीनों गुणों के आधार पर व्यक्तित्व के तीन प्रकार बताये हैं। इनका अध्ययन निम्नांकित वर्णन के आधार पर किया जा सकता है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि पृथ्वी में या स्वर्ग में अथवा देवताओं में ऐसा वह कोई भी प्राणी नहीं है जो इन तीनों गुणों से रहित हो–

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।। (गीता 18/40)

सात्विक व्यक्तित्व

सात्विक व्यक्तित्यों का स्वभाव श्रद्धायुक्त, आस्थावान तथा ईश्वरपरायण होता है। सात्विक व्यक्तियों के समस्त कर्म आसक्ति एवं फलाशा से रहित और धर्मानुकूल होते हैं। वे सफलता और असफलता का ध्यान न रखते हुए केवल कर्त्तव्य–बुद्धि से कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। **उन्हें सात्विक भोजन प्रिय होता है, जिनके द्वारा आयु, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, सुख आदि की वृद्धि होती है।** भाव–प्रकाश में सात्विक व्यक्ति के लक्षण इस प्रकार बताये हैं–

आस्तिक्यं प्रविभज्य भोजनमनुत्तापश्च तथ्यं वचो।
मेधा बुद्धि घृतिक्षमाश्च करुणा ज्ञानं च निर्दम्भतो।।
कर्मानिन्दितमस्पृहश्च विनयो धर्मे सदैवादरो।
ह्येते सत्त्वगुणान्वितस्य मनसो गीता गुणा ज्ञानिभिः।।

आस्तिक्य, सदसद् विवेचनापूर्ण भोजन, अक्रोध, सत्यवचन का प्रयोग, मेधा, बुद्धि, धृति, क्षमा, करुणा, आत्मतत्त्व का ज्ञान, दंभहीनता, अनिन्दित कर्म का आचरण, अस्पृहा, विनय और यत्नपूर्वक धर्मानुष्ठान, ये सब सात्विक मन के कार्य हैं। जिनका मन सत्वगुणान्वित है, वे इस प्रकार के कर्म करते हैं।

राजसिक व्यक्तित्व

राजसिक व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों की राजसिक श्रद्धा होती है। इनको राजसिक भोजन–खट्टा, तीक्ष्ण, अति उष्ण, उत्तेजक–प्रिय होता है जो कि दुःख,

चिन्ता और अस्वास्थ्य को उत्पन्न करने वाला होता है। राजसिक व्यक्ति फल, मान और प्रतिष्ठा के लिये तप, यज्ञ आदि अच्छे कर्म करते हैं। उनमें विवेक–बुद्धि नहीं होती। सफलता और असफलता में सुखी और दुखी होते रहते हैं।

क्रोधस्ताडनशीलता च बहुलं दुःखं सुखेच्छाधिका।
दम्भः कामुकताऽप्यलीकवचनं चाधीरता दुष्कृतिः।।
ऐश्वर्ये ह्यभिमानितातिशयिताऽनन्दोऽधिकश्चारणम्।
प्रख्याता हि रजोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः।।

क्रोध, ताडनशीलता (मार–पीट), अत्यन्त दुःख, सुख की इच्छा, दम्भ, कामुकता, मिथ्या भाषण, अधीरता, अहंकार, ऐश्वर्य में अतिशय अभिमान, अधिक आनन्द और परिभ्रमण–ये सब राजसिक मन के लक्षण हैं। जिनका मन रजोगुणान्वित होता है, वे इस प्रकार के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

तामसिक व्यक्तित्व

तामसिक व्यक्तित्व वाले व्यक्ति भूत, प्रेत, पिशाच आदि का पूजन करते हैं। वे पूजा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ होते हैं। वे दूसरों के कष्टों को ध्यान में न रखते हुए समस्त कार्य करते हैं। वे घमण्डी, अपकारी, अज्ञानी, मूर्ख, धोखा देने वाले तथा विचारहीन होते हैं। वे सदैव उल्टा ही सोचते हैं। उनकी बुद्धि विपरीत दिशा में ही कार्य करती है। उनकी धारणा हर विषय के प्रति गलत होती है। वे अधपका, अपवित्र, बासी, नीरस, दुर्गन्धपूर्ण, उच्छिष्ट भोजन प्रिय होते हैं। वे दूसरों का अहित करने एवं पीड़ा पहुँचाने के लिये तप आदि करते हैं।[1]

नास्तिक्यं सुविषण्णताऽतिशयितालस्यं च दुष्टामतिः।
प्रीतिर्निन्दितकर्मशर्मणि सदा निद्रालुताऽहर्निशम्।।
अज्ञानं किल सर्वतोऽपि सततं क्रोधान्धता मूढ़ता।
प्रख्याता हि तमोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः।।[2]

नास्तिकता, अतिशय विषण्णता, अत्यन्त आलस्य, दुष्ट बुद्धि, सर्वदा निन्दित कर्मजनित सुख में प्रीति, रात–दिन निद्रालुता, अत्यन्त अज्ञानता, सदा क्रोध और मूर्खता–ये तामसिक मन के लक्षण हैं। जिन व्यक्तियों का मन तमोगुणान्वित होता है, वे इस प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होते हैं।

दैवी एवं आसुरी सम्पदा

श्रीमद्भगवद् गीता में व्यक्तित्व के त्रिगुणात्मक विभाजन के अतिरिक्त दैवी और

1. गीता–17 / 2–28
2. भाव–प्रकाश – प्रथम खण्ड
3. गीता–16 / 1–23

आसुरी सम्पदा वाले दो प्रकार के व्यक्तित्व भी बताये हैं।[3] दैवी सम्पदा वाले व्यक्तियों का अन्तःकरण शुद्ध होता है। वे अभय एवं सात्विक वृत्ति वाले होते हैं। दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, शान्त स्वभाव, किसी की निन्दा न करना, सब प्राणियों के प्रति दया, अलोलुपता, कोमलता, लोक और शास्त्र विरुद्ध आचरण में लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोह, अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव आदि गुणों से युक्त होना दैवी सम्पदा को प्राप्त हुए व्यक्तित्व के लक्षण हैं।

आसुरी व्यक्तित्व वाले पाखण्डी, घमण्डी, अभिमानी, क्रोधी, कटुभाषी और अज्ञानी होते हैं। उनका भौतिकवादी दृष्टिकोण होता है। वे ईश्वर को नहीं मानते। समस्त विश्व उनके लिये आधाररहित है। वे अपनी तुच्छ बुद्धि से सदैव विश्व के विनाश–कार्य में संलग्न रहते हैं। उनके समस्त क्रियाकलाप इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने के लिये होते हैं। वे इन्द्रिय–सुखों को ही स्थायी सुख मानते हैं। अपने इन सुखों के लिये वे दूसरों को कष्ट देते, मारते और नष्ट करते हैं। आसुरी सम्पदा वाले व्यक्त्यों को उचित और अनुचित का विवेक नहीं होता।

चतुर्विध व्यक्तित्व

व्यक्तित्व के उपर्युक्त विभाजन के अतिरिक्त श्री अरविन्द ने चतुर्विध व्यक्तित्व का उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है – "भगवान अर्थात् प्रकृति में अभिव्यक्त आत्मा अनन्त गुणों के महासिन्धु के रूप में लीला करता दिखाई देता है। परन्तु कार्यवाहिका या यान्त्रिक प्रकृति सत्व, रज और तम – इन तीनों गुणों से निर्मित है और अनन्त गुणमय भगवान अर्थात् उनके अनन्त गुणों की आध्यात्मिक क्रीडा इस यान्त्रिक प्रकृति में अपने स्वरूप को इन तीन गुणों के विशिष्ट रूप में परिवर्तित कर देती है। मनुष्य की उपर्युक्त आत्मशक्ति में यह प्रकृतिगत भगवान चार प्रकार की कार्यक्षम शक्ति, चतुर्व्यूह के रूप में अपने आपको प्रकट करते हैं। वे चार शक्तियाँ ये हैं – ज्ञानशक्ति, पौरुष–शक्ति (क्षात्रशक्ति), पारस्परिकता और सक्रिय एवं उत्पादन–व्यवसायगत सम्बन्ध और आदान–प्रदान की शक्ति (वैश्य शक्ति) और कार्य–कलाप, श्रम एवं सेवा की शक्ति (शुद्र शक्ति)। भगवान की उपस्थिति समस्त मानव–जीवन को इन चार शक्तियों की ग्रन्थि तथा बाह्याभ्यन्तर क्रिया के रूप में ढाल देती है। भारत के प्राचीन मनीषी सक्रिय मानव–व्यक्तित्व और प्रकृति के इस चतुर्विध विभेद से अभिज्ञ थे। अतएव उन्होंने इससे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्ररूपी

---

1. श्री अरविन्द–'योग समन्वय,–उत्तरार्ध, पृष्ठ 858।

चार वर्णों की सृष्टि की थी।"[1]

श्रीमद्भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र – इन चार प्रकार के व्यक्तियों का उल्लेख किया है। **यह विभाजन कर्म, स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के आधार पर किया गया है।[1] कालान्तर में, मानव–स्वभाव के आधार पर किया गया यह विभाजन जन्मगत जातियों में रूढ़ हो गया और परिणामतः समाज में अज्ञानवश अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हो गयीं।** श्री अरविन्द ने इस चतुर्विध विभाजन को मनुष्य के जन्म से स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने कहा है– "यह असंस्कृत बाह्य धारणा कि मनुष्य जन्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र रूप में और एक मात्र इसी रूप में पैदा होता है, हमारी सत्ता का मनोवैज्ञानिक सत्य नहीं है। मनोवैज्ञानिक तथ्य यह है कि हमारे अन्दर परम आत्मा की तथा उसकी कार्यवाहिका शक्ति की ये चार सक्रिय शक्तियाँ और प्रवृत्तियाँ हैं तथा हमारे व्यक्तित्व के अपेक्षाकृत सुगठित भाग में इनमें से किसी एक या दूसरे की प्रधानता के कारण ही हमें हमारी मुख्य प्रवृत्तियाँ, प्रभुत्वपूर्ण गुण और क्षमतायें, कर्म और जीवन की प्रभावशाली दिशा प्राप्त होती है। परन्तु ये न्यूनाधिक मात्रा में सभी मनुष्यों में विद्यमान है।"[2]

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि भारतीय मनोविज्ञान में व्यक्तित्व का सर्वांगपूर्ण विचार, मनोवैज्ञानिक आधार पर उसका विभाजन तथा उसके विकास के स्तर एवं पद्धति आदि सभी पक्षों पर प्रयोग एवं गहन चिन्तन हुआ है।

योग विज्ञान

योग विज्ञान का इतिहास अति प्राचीन है। वैदिक ऋषियों ने ब्रह्मविद्या के साथ ही योग विद्या का आविष्कार किया। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वैदिक मन्त्रों की रचना योगाभ्यास की उच्चतम भूमिकाओं का ही परिणाम है जिसे पतंजलि ने ऋतम्भरा प्रज्ञा कहा है। मानव का मन जब ब्रह्मरूप ऋत से संयुक्त हो जाता है तो ऋतम्भरा प्रज्ञा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उसी ऋतम्भरा प्रज्ञा की स्थिति में विश्व के जिन सत्यों का दर्शन होता है, वे ही वैदिक मन्त्रों में प्रकट हुए हैं। योग की उच्चतम भूमिका समाधि अवस्था है। उस समाधि अवस्था में सत्य–दर्शन की क्षमता जिन्हें प्राप्त हुई, वे ऋषि थे। अतः ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा कहा गया है।

सत्य–दर्शन की अभिलाषा मानव का सहज धर्म है। भारतीय साधना के प्रत्येक

---

1. गीता–18 / 41–44
2. श्री अरविन्द–'योग समन्वय' – उत्तरार्ध, पृष्ठ 859

क्षेत्र में सत्य की जिज्ञासा रही है। सत्य ही सर्वसाधनाओं का साध्य रहा है। अतः भारतीय साधना के प्रत्येक क्षेत्र में योग का सर्वोच्च स्थान है। अविद्या के प्रभाव से मानव का चित्त स्वभावतः बहिर्मुख है। इस बहिर्मुख चित्त को अन्तर्मुख करने का प्रयत्न योग का प्राथमिक रूप है। कर्म के मार्ग से हो, चाहे ज्ञान के मार्ग से हो अथवा भक्ति–मार्ग से हो अथवा अन्य किसी उपाय से हो, चित्त की एकाग्रता का सम्पादन साध्य की प्राप्ति हेतु आवश्यक है। एकाग्रता की उच्च अवस्था ही समाधि है। इस समाधि अवस्था में ही सत्य के दर्शन होते हैं। यही योग का परम उद्देश्य है।

'योग' शब्द संस्कृत के 'युज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है युक्त करना, मिलना, ऐक्य। शरीर, मन और आत्मा की समग्र शक्तियों को साध्य में संयोजित करना ही योग है। मानव शरीर, मन एवं आत्मा का एक संगठित रूप है। शरीर पर नियन्त्रण, मन पर अनुशासन एवं आत्मा के गूढ़तम रहस्यों के उद्घाटन के साथ ही तीनों में संतुलन एवं समन्वय की स्थापना ही योग है।

योगदर्शन भारतीय षड्दर्शनों में से एक है। महर्षि पतंजलि ने इस दर्शन के सिद्धान्तों को 195 योग–सूत्रों में संकलित किया है। पातंजल योग–सूत्र भारतीय मनोविज्ञान का आधारभूत एवं प्रामाणिक शास्त्र है। श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में ध्यानयोग विषय का प्रतिपादन योगदर्शन का अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रमाण है। योग व्यष्टि चेतना (जीवात्मा) का विश्व चेतना (परमात्मा) में मिलन है। इस मिलन के विभिन्न मार्ग हैं। क्रियाशील व्यक्ति निष्काम कर्म अर्थात् कर्मयोग के मार्ग से परमात्मा के दर्शन करता है। भावनाशील व्यक्ति भक्तियोग के मार्ग से उसे प्राप्त करता है, जहाँ उसे अपने आराध्य देव के प्रति अनन्य प्रेम और भक्ति से अनुभूति प्राप्त होती है। बुद्धिमान मनुष्य ज्ञानयोग का अनुसरण करता है, जहाँ ज्ञान से उसे परम चेतना के अस्तित्व का बोध होकर उससे एकता प्राप्त करता है। ध्यानी पुरुष मन के संयम के द्वारा उसका साक्षात्कार करता है। इन्द्रियों का राजा मन है जिसका अपने मन पर अधिकार है, वह राजयोगी है। पतंजलि ने मन को वश में करने के साधन बताये हैं और उसे 'अष्टांग योग' कहा है। अष्टांग योग ही राजयोग है। 'हठयोग प्रदीपिका' के रचयिता स्वात्माराम ने इसी मार्ग को 'हठयोग' कहा है, क्योंकि इसमें कठिन अनुशासन की आवश्यकता होती है।

अष्टांग योग

पातंजल अष्टांग योग के आठ अंग निम्नलिखित हैं–[1]

---

1. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।

—— पातंजल योग सूत्र, 2 / 29

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।

यम, नियम योग की आधारशिलाएँ हैं। इनसे चित्तशुद्धि होती है। इनके पालन से साधक का विकारों और वासनाओं पर नियन्त्रण स्थापित होता है। यम, नियम का पालन केवल साधक के लिये ही नहीं, अपितु सबके लिये आवश्यक है। इनके पालन के बिना समाज की व्यवस्था सुचारु रूप से चल ही नहीं सकती।

1. यम (सार्वभौम नैतिक कर्त्तव्य)

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।[1]

(क) **अहिंसा** – मन, वाणी और कर्म से किसी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न देना।

(ख) **सत्य** – मन में समझे गये के अनुसार ही दूसरों से कथन करना।

(ग) **अस्तेय** – मन से भी किसी के धन आदि वस्तु को बिना उसकी अनुमति के ग्रहण करने की इच्छा न करना।

(घ) **ब्रह्मचर्य** – समस्त इन्द्रियों के निरोध के द्वारा पूर्ण मानसिक पवित्रता–पूर्वक काम–वासना पर संयम रखना।

(ड) **अपरिग्रह** – आवश्यकता से अधिक वस्तुओं, धन आदि का संग्रह न करना।

2. नियम (अनुशासन द्वारा चित्त की शुद्धि)

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।[2]

(क) **शौच** – आभ्यन्तर तथा बाह्य शुद्धि।

(ख) **संतोष** – प्रत्येक स्थिति में प्रसन्न रहते हुए सभी प्रकार की तृष्णा से मुक्त होना।

(ग) **तप** – भूख–प्यास, सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमान, हर्ष–शोक आदि द्वन्द्वों को सहन करने की शक्ति जगाना।

(घ) **स्वाध्याय** – वेद, उपनिषद्, योगदर्शन, गीता आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन एवं प्रणव आदि मन्त्रों का जप करना।

(ड) **ईश्वर–प्रणिधान** – फल सहित समस्त कर्म एवं इच्छाएँ ईश्वर को समर्पित करना।

3. आसन

---

1. पातंजल योग सूत्र, 2/30
2. पातंजल योग सूत्र, 2/32

योग का तीसरा अंग 'आसन' अर्थात् शारीरिक स्थिति है। आसन से स्थिरता, स्वास्थ्य तथा अंग में हल्कापन आता है। स्थिर और सुखकर शारीरिक स्थिति मानसिक सन्तुलन लाती है और मन की चंचलता को रोकती है। आसन शारीरिक व्यायाम मात्र नहीं है, वे शारीरिक स्थितियाँ हैं। उनका अभ्यास करने से चपलता, सन्तुलन, धैर्य और चेतना का विकास होता है। शरीर की प्रत्येक मांसपेशी, नाड़ी और ग्रन्थि को प्रयोग में लाने एवं उनका व्यायाम करने के लिए आसनों का विकास हुआ है। योगासनों के अभ्यास से स्नायुओं, सूक्ष्म अवयवों तथा ग्रन्थियों का मृदुमर्दन होता है, जिससे उनकी कार्य–प्रणाली का सुधार होता है तथा नियंत्रित रखकर उन्हें सदैव स्वस्थ रखा जाता है। हठयोग में आसनों का मुख्य कार्य शरीर को स्वस्थ, निरोग और हल्का बनाना है। आसनों के अभ्यास से साधक शरीर पर विजय प्राप्त करता है और उसे साधना के योग्य बनाता है।

4. प्राणायाम

प्राण स्थूल व सूक्ष्म शक्ति है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। यह प्राणशक्ति समस्त जीव तथा वनस्पति जगत् में सक्रिय रूप से विद्यमान है। मानव–शरीर में इस प्राण–शक्ति का दक्षतापूर्वक संचालन करना प्राणायाम का लक्ष्य है। प्राण का तात्पर्य श्वास–प्रश्वास या उसकी प्रक्रिया से लिया जाता है, जो उचित नहीं है। प्राण तो विद्युत तत्व है जो श्वास–प्रश्वास को भी चलाता है। यह वह ऊर्जा है जो शरीर को जीवन्त रखती है। ब्रह्माण्ड में जो भी गतिशील, विकासशील और सक्रिय है, उसके अस्तित्व का रहस्य प्राण ही है।

'आयाम' का अर्थ लम्बाई, विस्तार, कसाव या प्रतिरोध है। प्राणायाम शब्द का अर्थ श्वास के माध्यम से प्राणतत्व का विस्तारण एवं नियन्त्रण है। प्राणायाम क्रिया में श्वास को फुफ्फुस में भरना 'पूरक', रिक्त करना 'रेचक' एवं रोकना 'कुम्भक कहलाता है। प्राणायाम के अभ्यास से मन का नियन्त्रण सरलता से हो जाता है, क्योंकि प्राण और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि के द्वारा धातुओं का मल नष्ट होता है, उसी प्रकार प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों के मल अर्थात् वासनाओं को क्षीण करके चित्त को शुद्ध किया जाता है। प्राणायाम के द्वारा चक्रों पर चित्त को केन्द्रित करके कुण्डलिनी शक्ति का जागरण किया जाता है। प्राणायाम से ब्रह्मचर्य की धारणा दृढ़ होती है।

5. प्रत्याहार

यम, नियम, एवं आसन का अभ्यास दृढ़ हो जाने के पश्चात् साधक प्राणायाम के अभ्यास के योग्य होता है। प्राणायाम के अभ्यास से चित्त की चंचलता नष्ट हो

जाती है। उसका व्यापार बन्द हो जाता है। फलतः इन्द्रियाँ भी फिर विषयों में प्रवृत्त नहीं होतीं। इन्द्रियों का अपने–अपने विषयों में प्रवृत्त न होकर चित्त में लीन होना प्रत्याहार है। प्रत्याहार शब्द का अर्थ ही पीछे जाना या वापस होना है। इन्द्रियों का विषयों की ओर न जाकर बुद्धि तत्व की ओर अन्तर्मुखी होना ही प्रत्याहार की अवस्था मानी जाती है। प्रत्याहार सिद्ध होने पर साधक पूर्ण रूप से जितेन्द्रिय हो जाता है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार–योग के ये पांच बहिरंग साधन हैं जिनका अभ्यास दृढ़ हो जाने पर साधक धारणा, ध्यान, समाधि के अभ्यास के योग्य हो जाता है।

6. धारणा

जब शरीर को आसनों द्वारा साधा गया है, जब मन प्राणायाम की अग्नि से सुसंस्कृत और पवित्र किया गया है और जब इन्द्रियाँ प्रत्याहार द्वारा वश में की गयी हैं, तब साधक धारणा नामक योग की छठी अवस्था को प्राप्त करता है। महाभारत में वर्णित अर्जुन के एक उदाहरण द्वारा धारणा का तात्पर्य स्पष्ट होता है। गुरु द्रोण ने राजकुमारों की प्रवीणता की परीक्षा लेने हेतु धनुर्विद्या–प्रतियोगिता का आयोजन किया। वृक्ष पर बैठे पक्षी की आँख का लक्ष्य–भेदन करना था। एक–एक करके राजकुमार बुलाये गये और उन्हें लक्ष्य–भेद करते समय क्या दिखाई दे रहा है, उसका भी वर्णन करने के लिये कहा गया। अर्जुन के अतिरिक्त सभी राजकुमारों ने पक्षी, वृक्ष, घोंसला आदि दिखाई दे रहा है, इसका वर्णन किया। केवल अर्जुन ने कहा कि "गुरू जी, मुझे केवल पक्षी की आँख दिखाई दे रही है।" यह अवस्था ही धारणा की अवस्था है।

जब मन की ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाये कि लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य विषय साधक के मन में न रहें, तब वह धारणा की अवस्था को प्राप्त होता है।

7. ध्यान

धारणा के विषय में चित्त का व्यवधानरहित निरन्तर प्रवाहित होते रहना ध्यान है। ध्यानावस्था में चित्त ध्येय वस्तु में पूर्ण रूपेण एकाग्र हो जाता है, उसमें दूसरी वृत्ति का बिल्कुल उदय नहीं होता। धारणा में बीच–बीच में दूसरी वृत्तियाँ उठ जाया करती हैं, किन्तु ध्यान में एक ही वृत्ति धारारूप से निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। धारणा की परिपक्वता ही ध्यान है। ध्यान की आदर्श अवस्था प्राप्त कर साधक योग की अन्तिम अवस्था 'समाधि' में प्रवेश करता है।

8. समाधि

ध्यान की पराकाष्ठा समाधि है। ध्यान का अभ्यास करते–करते जब ध्यान करने वाला, ध्यान की शक्ति तथा ध्येय, इन तीनों की स्वतन्त्र सत्ता समाप्त–सी हो जाये तब वही समाधि अवस्था कहलाती है। प्रज्ञा समाधि की अवस्था में उत्पन्न होती है जिसे समाधिजन्य बुद्धि कहा जाता है। समाधि की कई अवस्थाएँ हैं, जिनका विशद विवेचन पातंजल योग–सूत्रों में किया गया है।

नाड़ीमण्डल, चक्र एवं कुण्डलिनी शक्ति

योगाभ्यास के लिये शरीर का ज्ञान अति आवश्यक है। इसी कारण योग विषयक सभी ग्रन्थों में शरीर विज्ञान का विवेचन प्राप्त होता है। योग उपनिषदों में नाड़ीमण्डल (Nervous System) के विषय में बहुत सुन्दर विवेचन किया गया है। सुषुम्ना की स्थिति तथा उससे समस्त नाड़ियों का सम्बन्ध शास्त्रों में लगभग आधुनिक शरीर विज्ञान के समान ही प्राप्त होता है। अनेक स्थल ऐसे हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि शरीर विज्ञान का ज्ञान प्राचीन काल में आज के ज्ञान से कहीं अधिक था। आयुर्वेद के ग्रन्थों–सुश्रुत शरीर–स्थानम् एवं चरक शरीर–स्थानम् में भी शरीर विज्ञान का विशद विवेचन मिलता है।

उपनिषदों में इस शरीर को अन्नमय कोश कहा गया है। वेदों में इसे देवपुरी अयोध्या कहा है–

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पुर्ययोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।।[1]

इस शरीर के भीतर सूक्ष्म रूप से समस्त ब्रह्माण्ड विद्यमान है।[2] तन्त्रशास्त्र में नाड़ियों, चक्रों आदि शक्ति–केन्द्रों का वर्णन अधिक उपलब्ध है।

नाड़ीमण्डल एवं चक्र

शिव संहिता में साढ़े तीन लाख नाड़ियों का उल्लेख मिलता है।[3] त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषत् में तथा अन्य योग उपनिषदों में बहत्तर हज़ार नाड़ियों का विवेचन मिलता है। नाड़ियों की संख्या में यह अन्तर नाड़ियों के उपविभाजन के कारण हो सकता है। स्थूल शरीर में इन नाड़ियों का जाल–सा बिछा है। शरीर का कोई भी अंग, छोटा या बड़ा, नाड़ियों से रिक्त नहीं है। नाड़ियों के द्वारा ही शरीर की समस्त

---

1. अथर्व. 10–2–31
2. यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे–शिव संहिता–2 / 1
3. शिव संहिता–2 / 13

क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। नाड़ियों के द्वारा ही सम्पूर्ण शरीर के विभिन्न अंगों में पारस्परिक सम्बन्ध बना रहता है और शरीर एक इकाई के रूप में कार्य करता है। दर्शनोपनिषत् में बहत्तर हजार नाड़ियों में से चौदह प्रमुख नाड़ियों के नाम दिये हैं।[1] ये चौदह नाड़ियाँ हैं– सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला, गान्धारी, हस्त–जिह्विका, कुहू, सरस्वती, पूषा, शंखिनी, पयस्विनी, वरुणा, अलम्बुसा, विश्वोदरी, यशस्विनी। शिवसंहिता में भी इन चौदह नाड़ियों के ये ही नाम मिलते हैं।[2] इन चौदह नाड़ियों में इडा, पिंगला, सुषुम्ना तीन मुख्य हैं। इनका विस्तृत विवेचन प्रत्येक योग–ग्रन्थ में मिलता है। इनमें भी सुषुम्ना का महत्व योग में सर्वोच्च है। मेरुदण्ड के भीतर इड़ा, पिंगला के मध्य में सुषुम्ना की स्थिति बतायी है। इसे ब्रह्मनाड़ी भी कहा गया है। यह मूलाधार से प्रारम्भ होकर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है। तन्त्रों में मस्तिष्क और सुषुम्ना को ही चेतना का केन्द्र माना गया है। ब्रह्मरन्ध्र के मुख पर आज्ञाचक्र में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना मिलती है। शिव–संहिता में इड़ा को गंगा, पिंगला को यमुना और सुषुम्ना को सरस्वती कहा है। इसीलिये शरीर के भीतर इस त्रिवणी संगम–स्थान को प्रयागराज कहा है। इस संगम पर ही योगी ध्यान केन्द्रित करते हैं।

पिंगला को सूर्य नाड़ी तथा इड़ा को चन्द्र नाड़ी भी कहते हैं। नाड़ी मानसिक मार्ग को कहते हैं। नाड़ियों में प्राण–शक्ति विद्युत के समान प्रवाहित होकर शरीर में चेतना तथा प्राण का वितरण एवं नियन्त्रण करती है। प्राणायाम की क्रिया का सम्बन्ध भी इन नाड़ियों से ही है। सुषुम्ना में ही समस्त चक्रों की स्थिति बतायी है। इन चक्रों का विवरण वेदों, उपनिषदों एवं समस्त योग–ग्रन्थों में मिलता है। ये चक्र मानसिक शक्ति–केन्द्र हैं। इन केन्द्रों का ज्ञान शरीर की शल्यक्रिया से नहीं, वरन् मानसिक अन्तरावलोकन के द्वारा प्राप्त होता है।

1. मूलाधार चक्र

मूलाधार चक्र सुषुम्ना के सबसे नीचे स्थित है। अतएव इसे आधार चक्र भी कहा जाता है। यह प्रकृति में पृथ्वी तत्व से सम्बन्धित है। यह मानसिक अस्तित्व का आधार है। यह कुण्डलिनी या आध्यात्मिक शक्ति का अधिष्ठान है।

2. स्वाधिष्ठान चक्र

स्वाधिष्ठान का शाब्दिक अर्थ स्वयं का निवास है। अवचेतन मन से सम्बन्धित यह दूसरा चक्र है। यह चक्र अवचेतन मन में समस्त संस्कारों तथा सुदूर आनुवंशिक

---

1. दर्शनोपनिषत्–4 / 5–10
2. शिव संहिता–2 / 14–15

स्मृतियों का भण्डारगृह है। भौतिक शरीर में इसका सम्बन्ध प्रजनन तथा उत्सर्जक अंगों से है। यह चक्र उपस्थ के मूल में स्थित है। इसका सम्बन्ध जल तत्व से है।

3. मणिपूर चक्र

यह चक्र सुषुम्ना में कुछ ऊपर चलकर नाभिस्थान में स्थित है। यह अग्नि तत्त्व का केन्द्र है। इसका सम्बन्ध शरीर की जीवन–शक्ति एवं ऊर्जा से है। मणिपूर चक्र प्राणतत्व का उत्पादन–केन्द्र है।

4. अनाहत चक्र

यह चक्र मेरुदण्ड में हृदय प्रदेश के पीछे स्थित है। यह चक्र गहरे ध्यान की स्थिति में सुनाई पड़ने वाली अनाहत ध्वनि का केन्द्र है। यह संवेदनाओं और ईश्वर प्रेम का केन्द्र–स्थल माना जाता है। यहीं ईश्वर के लिये प्रेम संचित होकर दिव्यानुभूति में परिणत होता है। जीवात्मा का यही स्थान माना जाता है।

5. विशुद्ध चक्र

इस चक्र की स्थिति कंठकूप के पीछे मेरुदण्ड में मानी जाती है। यह आकाश–तत्व–प्रधान चक्र है। यह वाक् शक्ति का स्थान है। भाषा तथा सप्त स्वरों का यह उद्‌गम स्थान है।

6. आज्ञा चक्र

यह चक्र भ्रूमध्य के पीछे स्थित है। यह इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना–तीनों नाड़ियों का संगम–केन्द्र है। यह ज्ञानात्मक शक्तियों का केन्द्र है। इसी को तृतीय ज्ञान–नेत्र कहा जाता है। इस पर ध्यान करने वाला योगी दिव्य दृष्टि प्राप्त करता है। योग विज्ञान में आज्ञा चक्र का अत्यधिक महत्व है।

7. बिन्दु चक्र

सिर के सर्वोच्च स्थान में, जहाँ हिन्दू परम्परानुसार चोटी रखते हैं, यह बिन्दु चक्र स्थित है। इसको सोम चक्र भी कहते हैं।

8. सहस्रार चक्र

अन्य चक्रों में सहस्रार की स्थिति सर्वोच्च है। ऐसा माना जाता है कि इस चक्र

में अन्य सभी चक्र समाहित हैं। यह सम्पूर्ण चेतना का केन्द्र है। यह शिव (उच्चतम चेतना) एवं शक्ति (सूक्ष्म प्राण) का परम मिलन–स्थान है। इस चक्र को ब्रह्मरन्ध्र, दशम द्वार भी कहते हैं।

कुण्डलिनी शक्ति

कुण्डलिनी वह महाशक्ति है जो प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान है। प्राणशक्ति ही कुण्डलिनी के नाम से जानी जाती है। कुण्डलिनी का तात्पर्य कुण्डली मारकर बैठे हुए उस सर्प के समान है जो मूलाधार चक्र में स्थित है। कुण्डली मारकर बैठा सर्प मनुष्य में छिपी अपार शक्ति का प्रतीकात्मक वर्णन है। इस शक्ति की सुप्तावस्था में सुषुम्ना मार्ग बन्द रहता है ओर तब प्राणशक्ति इडा और पिंगला में होकर बहती रहती है।

कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में यह सर्प रूपी शक्ति अपनी कुण्डली खोलकर एक–एक करके प्रत्येक चक्र को भोदते हुए ऊपर चढ़ती है। यह आरोहण सुषुम्ना नाड़ी में होता है तथा परम चेतना के अधिष्ठान सहस्रार चक्र में जाकर समाप्त हो जाता है। सभी चक्र विद्युत् के 'स्विच' के समान हैं जो प्रत्यक्ष रूप से सहस्रार से सम्बन्धित हैं। जब ये सक्रिय होते हैं तो चेतना क्रम से जाग्रत होने लगती है। इस प्रक्रिया की पूर्णता ही समाधि है। समाधि को तन्त्र–शास्त्रों में दो विरोधी तत्वों का मिलन कहा है। इसी को शिव और शक्ति, परमात्मा और आत्मा, पुरुष और प्रकृति, विश्व चेतना और व्यष्टि चेतना का मिलन कहते हैं। यही योग है।

कुण्डलिनी शक्ति शरीर के शुद्ध और सूक्ष्म होने पर–सात्विक विचार, शुद्ध अन्तःकरण, ईश्वर की सच्ची भक्ति और परिपक्व वैराग्य की अवस्था में– एकाग्रता अर्थात् निश्चल ध्यान से जाग्रत होती है। श्री अरविन्द ने भी कुण्डलिनी शक्ति के जागरण की चर्चा 'योगसमन्वय' के राजयोग प्रकरण में की है। उन्होंने कहा है– "हमारी सत्ता की वास्तविक शक्ति हमारे प्राण–संस्थान की गहराइयों में प्रसुप्त और निश्चेतन पड़ी हुई है और प्राणायाम के अभ्यास से वह जाग उठती है।"[1]

मातृका शक्ति

मातृका का अर्थ वर्णमाला है। संस्कृत वर्णमाला के 50 वर्णों का सीधा सम्बन्ध हमारे शरीरस्थ शक्ति–केन्द्रों एवं चक्रों से है। वर्णों को अक्षर भी कहते हैं। अक्षर का अर्थ है जो नष्ट न हो। अक्षर ध्वनि विशेष हैं। यह विज्ञान–सिद्ध है कि

---

1. श्री अरविन्द– 'योग–समन्वय', पूर्वार्ध, पृष्ठ 617

ध्वनि कभी नष्ट नहीं होती। इस सिद्धान्त का ज्ञान भारतीय ऋषियों को था, अतः वर्ण को उन्होंने अक्षर संज्ञा प्रदत्त की। ध्वनि की उत्पत्ति कम्पन से होती है। इस कम्पन की गुरुता एक से दस 'डेसीबल' तक होती है। ध्वनि का प्रभाव शरीर के संगठन में भौतिक परिवर्तन लाता है। ध्वनि एक ऊर्जा है। इसको तीव्रता की उस सीमा तक एकाग्र किया जा सकता है कि वस्तुएँ बिखर कर नष्ट होती देखी गयी हैं। ध्वनि में सुर, स्वर, तीव्रता तथा कुछ विशेष सूक्ष्म गुण होते हैं। ऋषियों ने इन तथ्यों को अनुभव किया और उसी आधार पर संस्कृत वर्णों की रचना की।

वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर एक ध्वनि–विशेष शक्ति है। इनका सम्बन्ध सुषुम्नागत चक्रों से है। विशुद्ध चक्र में 16 स्वर, अनाहत में क से ठ तक 12 अक्षर, मणिपुर–में ड से फ तक 10 अक्षर, स्वाधिष्ठान में ब से ल तक 6 अक्षर, मूलाधार में व श ष स 4 अक्षर और आज्ञाचक्र में क्ष तथा ह 2 अक्षर माने जाते हैं। इन वर्णों से सम्बन्धित शक्तियाँ इन चक्रों में स्थित हैं। वर्णों के शुद्ध उच्चारण से इन चक्रों की शक्तियाँ जाग्रत होती हैं। मंत्रों की रचना भी इसी सिद्धान्त पर आधारित है और मंत्रों के जप से शक्ति–जागरण का भी यही रहस्य है। प्राचीन ऋषियों को ध्वनि–विज्ञान का उच्च ज्ञान प्राप्त था। यह ज्ञान मंत्र–शक्ति में छिपा पड़ा है।

वाणी (वाक् शक्ति) का मूल स्थान भी मूलाधार चक्र है। यहाँ वाणी का नाम 'परा' है। मणिपुर चक्र में इस परा नामक वाणी को गति प्राप्त होकर उसका नाम 'पश्यन्ती' पड़ा है। अनाहत चक्र में उस वाणी को भाव मिलता है और उसे 'मध्यमा' कहा जाता है। विशुद्ध चक्र में उसे 'वैखरी' कहते हैं जहाँ वाणी वाक् शक्ति (मुख से बोली जाने वाली) के रूप में प्रकट होती है। वाणी को सरस्वती भी कहा गया है।

ॐ (ओ3म्)

ॐ की ध्वनि को आदि शब्द माना गया है। इसे नाद ब्रह्म भी कहा जाता है। ॐ के लिये दूसरा शब्द प्रणव है। ॐ प्रतीकात्मक शब्द है जो ब्रह्म एवं परमात्मा का वाचक है। कहा जाता है कि ब्रह्म के द्वारा सृष्टि का आरम्भ होते समय प्रकाश की हलचल से जो सर्वप्रथम कम्पन हुआ उस कम्पन में से ॐ की ध्वनि निकली। परमाणुओं की हलचल से उत्पन्न कम्पन में यह ध्वनि होती रहती है। ॐ शब्द अ, उ, म् तीन अक्षरों से बना है। लिखते समय मात्रा के रूप में अर्द्धचन्द्र और एक बिन्दु लगाया जाता है। ॐ की ध्वनि का नाड़ी–केन्द्रों पर एवं प्राण की तरंगों पर चमत्कारिक प्रभाव होता है। मस्तिष्क में 'ऐल्फा', 'बीटा' और 'गामा' तरंगें ॐ की ध्वनि से सक्रिय एवं सन्तुलित होती हैं। मन पूर्णतः शान्त एवं एकाग्र हो जाता है। इस ध्वनि से नाड़ी–केन्द्रों की अर्थात् चक्रों की चेतना–शक्ति जाग्रत होती है एवं

मस्तिष्क की शक्तियाँ बढ़ती हैं। ॐ के विधिवत् उच्चारण से हृदयरोग आदि अनेक व्याधियों का निवारण होता है। ॐ के जप से शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास होता है। ॐ की ध्वनि का जप सभी भारतीय धर्मों में स्वीकार किया गया है। विद्यालयों में ॐ की ध्वनि को दैनिक प्रार्थना का अंग बनाना चाहिए तथा शिक्षण–कार्य ॐ की ध्वनि से प्रारम्भ करना चाहिए। इससे मस्तिष्क शान्त एवं एकाग्र होता है, जो ज्ञानार्जन हेतु आवश्यक है।

योग एवं शिक्षा

पूर्वोक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि **योग–विज्ञान का उपयोग प्राचीन शिक्षा–पद्धति का अभिन्न अंग था। वर्तमान शिक्षा–प्रणाली में इस अमूल्य विज्ञान का उपयोग किस प्रकार हो सकता है, यह विषय शिक्षाशास्त्रियों के लिये विचारणीय है।**

योग विज्ञान भारतीय मनोविज्ञान का व्यावहारिक रूप है। इसको शिक्षा का आधार बनाना परमावश्यक है, तब ही हमारी शिक्षा सही अर्थों में फलदायक होगी। परमेश्वर द्वारा प्रदत्त हमारे इस भौतिक शरीर में अपार शक्तियाँ विद्यमान हैं। परन्तु वे शक्तियाँ सुप्त पड़ी हुई हैं। आधुनिक मनोविज्ञान का कथन है कि मनुष्य के मस्तिष्क का केवल दसवाँ भाग ही उपयोग में आता है, शेष भाग सुप्त है। यह सुप्त भाग योग के अभ्यास के द्वारा ही जाग्रत किया जा सकता है। योगाभ्यास के द्वारा मानसिक शक्तियों का विकास होता है, यह विज्ञान–सिद्ध है। लेखक स्वयं आगरा के डा. सुभाष जैन से परिचित हैं, जो मानसिक विकास की दृष्टि से सामान्य स्तर के थे। किन्तु एक योगी के निर्देशन में उन्होंने प्राणायाम एवं योगनिद्रा का तीन मास तक अभ्यास किया। उसके फलस्वरूप उनकी स्मृति–शक्ति इतनी जाग्रत हो गयी है कि जो वह एक बार सुनते हैं अथवा पढ़ते हैं, वह उनकी चेतन स्मृति का स्थायी अंग बन जाता है।

आज हम असाधारण अशांति के काल में हैं। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति वर्तमान जीवन के प्रति असन्तुष्ट है और परिस्थितियों के साथ स्वयं को समायोजित कर पाने में अक्षम दिखाई देता है। आज का व्यक्ति प्रत्येक क्षण टूटने के चरम बिन्दु पर है। इस परिस्थिति में उसमें पाशविक आक्रोश का विस्फोट होना स्वाभाविक है। हमारा युवा छात्र वर्ग भी इसका अपवाद नहीं है।

हम इस समस्या की गइराई में पहुँचने का प्रयास ही नहीं करते और सरलता से इस प्रश्न को देश की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से जोड़

देते हैं। कुछ हमारी शिक्षा–पद्धति को दोष देते हैं। शिक्षा में सुधार के प्रयास भी हुए, परन्तु समस्या का समाधान बाह्य परिवेश में परिवर्तन लाने में खोजते हैं। परिणामतः सभी प्रयास विफल हुए हैं।

वास्तव में आज की समस्या मनो–शारीरिक के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब मनुष्य का नाड़ी–केन्द्र–विशेष, जिस पर उसका व्यवहार निर्भर रहता है, उत्तेजित हो जाता है, उस समय वह अपनी विवेक–शक्ति खो देता है। इस अवस्था में कोई भी बौद्धिक तर्क या उपदेश उसके व्यवहार में परिवर्तन नहीं ला सकते। **हमारी प्राचीन योगविद्या की पद्धति ही इसका एक सही समाधान है।** आसन, प्राणायाम एवं ध्यान के अभ्यास से उत्तेजित नाडी–केन्द्र सन्तुलित एवं शान्त हो जाते हैं एवं विक्षिप्त अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ नियमित स्राव करती हैं। इनके अभ्यास से स्वतः गम्भीरता उत्पन्न होती है। योग से व्यक्ति के सात्विक आचार–विचार बनते हैं। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षाशास्त्री इस सनातन भारतीय विद्या का अध्ययन करें एवं योग को शिक्षा–पद्धति का आधार बनायें।

शिक्षा ज्ञान की साधना है। ज्ञान आत्मा का प्रकाश है। मनुष्य को ज्ञान बाहर से प्राप्त नहीं होता, वरन् आत्मा के अनावरण से ही ज्ञान का प्रकटीकरण होता है। वास्तव में मनुष्य की इस अन्तर्निहित ज्ञान–शक्ति को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है। इस ज्ञान की प्राप्ति का एक मात्र मार्ग एकाग्रता है। चित्त की एकाग्रता ही शिक्षा का सार है। चित्त ही शिक्षा का वाहन है। चित्त की एकाग्र अवस्था में ही आत्मा के प्रकाश से विषय का यथार्थ ज्ञान होता है। भारतीय चिन्तन में चित्तवृत्ति–निरोध को ही शिक्षा का लक्ष्य माना है। चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।[1] वास्तव में योग–साधना शिक्षा की प्रणाली है। योग आधारित शिक्षा ही यथार्थ में शिक्षा है।

---

1. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः – पातंजल योग सूत्र–1/2

6

शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा के उद्देश्य मनुष्य जीवन के उद्देश्यों से भिन्न नहीं हैं। शिक्षा एक प्रणाली है जिससे जीवन के उद्देश्य प्राप्त होते हैं। शिक्षा मानव की उन अन्तर्निहित शक्तियों, कुशलताओं एवं गुणों का विकास करती है जिनसे वह अपने जीवन के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल होता है। मानव जीवन का लक्ष्य है, "धर्माचरण के द्वारा अर्थ और काम पुरुषार्थों की साधना करते हुए परम पुरुषार्थ 'मोक्ष' अर्थात् सत्, चित्त्, आनन्दस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति करना।" भारतीय दृष्टि से विद्या प्राप्त करने का मुख्य उद्देश्य भी यही बताया गया है। "सा विद्या या विमुक्तये" – विद्या वही है जो मोक्ष दिलाये। इस परम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु व्यावहारिक पक्ष की शिक्षा भी आवश्यक मानी गयी है। इशोपनिषद् में इसका उल्लेख है–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्ययामृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।
अन्धं तमः प्रवशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।।

जो लोग विद्या (अध्यात्म विद्या या पराविद्या) और अविद्या (भौतिक विद्या अथवा अपराविद्या) दोनों को साथ–साथ जानते हैं, वे ही भौतिक विद्या के सहारे सुखपूर्वक इस मर्त्यलोक (संसार) को पार करके अध्यात्म विद्या के सहारे अमृत या मोक्ष प्राप्त करते हैं। जो लोग केवल अविद्या अर्थात् भौतिक शास्त्रों की उपासना करते हैं, वे अन्धकार में पड़े हुए हैं। किन्तु उनसे भी घने अन्धकार में वे लोग हैं जो संसार की चिन्ता न करके केवल अध्यात्म विद्या में लीन रहते हैं। अपरा विद्या के अन्तर्गत विज्ञान, साहित्य, इतिहास, अर्थशास्त्र, कला, शिल्प आदि सांसारिक ज्ञान हैं। इस प्रकार भारतीय शिक्षा–दर्शन में आध्यात्मिक एवं भौतिक, दोनों प्रकार के ज्ञान का सामंजस्य है। **डॉ. अल्तेकर ने प्राचीन भारत में शिक्षा के उद्देश्यों की गणना कराते हुए कहा है कि "शिष्य को पवित्रता और धर्म की भावना, चरित्र–निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक और सामाजिक कर्त्तव्य की भावना, सामाजिक समर्थता की समुन्नति और राष्ट्रीय संस्कृति के**

विस्तार की दृष्टि से शिक्षा देनी चाहिए।"

आधुनिक भारत के महान् विचारक स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा के उद्देश्यों पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है– "शिक्षा विविध जानकारियों का ढेर नहीं है जो तुम्हारे मस्तिष्क में भर दिया गया है और जो आत्मसात् हुए बिना वहाँ आजन्म पड़ा रहकर गड़बड़ मचाया करता है। हमें उन विचारों की अनुभूति कर लेने की आवश्यकता है जो जीवन–निर्माण, मनुष्य–निर्माण तथा चरित्र–निर्माण में सहायक हों।" उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि **"हमें तो ऐसी शिक्षा चाहिए जिससे चरित्र बने, मानसिक वीर्य बढ़े, बुद्धि का विकास हो और जिससे मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सके।"**[1]

श्री अरविन्द के अनुसार, "बालक की प्रकृति में जो कुछ सर्वोत्तम, सर्वाधिक शक्तिशाली, सर्वाधिक अन्तरंग और जीवनपूर्ण है, उसको व्यक्त करना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। बालक की सच्ची शिक्षा वही है जो कि उसके समस्त पक्षों का विकास करे। उसके जीवन, मस्तिष्क और आत्मा, व्यक्तिगत और सामाजिक स्थिति–सभी में उसके सर्वांगीण विकास में योगदान दे।"[2] श्री अरविन्द अन्तरराष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक होते हुए भी कट्टर राष्ट्रवादी थे। वह यह मानते थे कि संसार में सर्वत्र मानव की आवश्यकताएँ समान हैं तथा ज्ञान एवं सत्य किसी देश की सीमा में नहीं बाँधे जा सकते, किन्तु फिर भी प्रत्येक देश का अपना एक स्वधर्म होता है, एक स्वभाव होता है। उसी के अनुसार उसका विकास किया जाना चाहिए। श्री अरविन्द ने कहा है–"हम जिस शिक्षा की खोज में हैं, वह एक भारतीय आत्मा और आवश्यकता तथा स्वभाव और संस्कृति के उपयुक्त शिक्षा है, केवल ऐसी शिक्षा नहीं जो भूतकाल के प्रति ही आस्था रखती हो, बल्कि भारत के विकासमान आत्मा के प्रति, उसकी भावी आवश्यकताओं के प्रति, उसकी आत्मोन्नति की महानता के प्रति और उसके शाश्वत आत्मा के प्रति आस्था रखती हो।"[3]

श्री अरविन्द ने मानव की दिव्य पूर्णता को जीवन एवं शिक्षा का लक्ष्य माना है। शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, आन्तरात्मिक एवं आध्यात्मिक विकास के द्वारा इस पूर्णता को प्राप्त करना है। श्री माँ के शब्दों में, "जब हम पूर्णता की इस मात्रा को प्राप्त हो जायेंगे, जो कि हमारा लक्ष्य है, तब हम देखेंगे कि जिस सत्य की खोज हम कर रहे हैं वह चार प्रधान तत्त्वों से बना है–प्रेम, ज्ञान, शक्ति और सौन्दर्य। सत्य के ये चारों रूप अपने आप हमारी सत्ता के अन्दर अभिव्यक्त होंगे। चैत्य पुरुष होगा

---

1. स्वामी विवेकानन्द–'शिक्षा', श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृष्ठ 4
2. श्री अरविन्द–'शिक्षा के आयाम'
3. श्री अरविन्द–'शिक्षा के आयाम'

सच्चे और शुद्ध प्रेम का वाहन, मन होगा अभ्रान्त ज्ञान का यन्त्र, प्राण प्रकट करेगा एक अदम्य शक्ति और सामर्थ्य और शरीर बन जायेगा पूर्ण सौन्दर्य और पूर्ण सामंजस्य की प्रतिमा।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन एवं अर्वाचीन भारतीय मनीषियों ने शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं, वे प्रायः समान हैं। केवल अभिव्यक्ति की भिन्नता के कारण शब्दों में थोड़ा–बहुत अन्तर मिलता है। **भारतीय शिक्षा–दर्शन एवं मनोविज्ञान के प्रकरणों के विवेचन की पृष्ठभूमि को दृष्टिगत रखते हुए शिक्षा के उद्देश्यों को निम्नांकित चरणों के अनुसार निर्धारित किया जा सकता है। इसे हमने 'पंचमुखी शिक्षा' कहा है।**

पंचमुखी शिक्षा

(1) शारीरिक शिक्षा – छात्रों के आध्यात्मिक, नैतिक, मानसिक एवं व्यावसायिक विकास का साधन शरीर है। अतः शारीरिक विकास को शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य माना गया है। शारीरिक विकास के अन्तर्गत अन्नमय एवं प्राणमय–दोनों कोशों का विकास सम्मिलित है।

(2) व्यावसायिक शिक्षा – व्यक्तिगत जीविकोपार्जन हेतु एवं राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि हेतु आवश्यक व्यावहारिक कुशलताओं एवं सम्बन्धित गुणों एवं वृत्तियों का विकास करना।

(3) मानसिक शिक्षा – इसके अन्तर्गत मानसिक एवं बौद्धिक शक्तियों एवं क्षमताओं का विकास एवं जिस विश्व में हम रह रहे हैं उसका ज्ञान प्राप्त करना समाहित है।

(4) नैतिक शिक्षा – ईश्वरोन्मुख जीवन के लिये ध्येयनिष्ठा, अनुशासन, स्वच्छता–बोध, सत्यवादिता, निःस्वार्थता, व्यवस्थाप्रियता, शिष्टाचार, समाज एवं राष्ट्र के प्रति भक्तिभावना आदि सद्गुणों का विकास करना।

(5) आध्यात्मिक शिक्षा – भारतीय जीवन–दर्शन के अनुसार जीवन के परम लक्ष्य के प्रति सचेत करना, अन्तरात्मा में एवं दूसरे प्राणियों में ईश्वर के दर्शन करना, निर्भयता, प्रेम, करुणा आदि आध्यात्मिक गुणों का विकास करना।

शिक्षा के उद्देश्यों का विचार करते समय यह समझना आवश्यक है कि जीवन की भाँति शिक्षा भी एक अखण्ड प्रक्रिया है। जिस प्रकार जीवन को एक समग्र रूप में ही देखा जा सकता है, उसी प्रकार शिक्षा को भी खण्ड–खण्ड नहीं किया जा

---

1. श्री माता जी–'शिक्षा', श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी, पृष्ठ, 11

सकता। हम विचार करने की सुविधा के लिये उसके विभाग करते हैं। शिक्षा के सभी उद्देश्य परस्पर सम्बन्धित होते हैं तथा उनका कोई निश्चित क्रम निर्धारित नहीं किया जा सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि शिक्षा का अमुक उद्देश्य पहले प्राप्त करना चाहिए अथवा अमुक बाद में। देश, काल, परिस्थिति की माँग के अनुसार उन उद्देश्यों की विषयवस्तु (कॉण्टेण्ट्स) में परिवर्तन अथवा आग्रह में अन्तर आ सकता है।

यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि मनुष्य की ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति, एवं क्रिया शक्ति–तीनों शक्तियों का शिक्षा से सम्बन्ध है। शिक्षा के किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति तभी सार्थक है, जब उसमें इन तीनों शक्तियों का योग हो। उदाहरण के लिये हम शिक्षा के शारीरिक विकास के उद्देश्यों को ही ले सकते हैं। इसकी प्राप्ति के लिये शरीर एवं उसके विकास के सम्बन्ध में ज्ञान, शरीर का विकास करने की इच्छा एवं उसको क्रिया रूप में परिणित करना आवश्यक है। इसके बिना शारीरिक विकास का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञान, इच्छा और क्रिया के समन्वय को शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य माना है।

अब हम उपर्युक्त पंचमुखी शिक्षा का अलग–अलग विस्तार से विचार करेंगे।

(1) शारीरिक शिक्षा

"शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्"–शरीर समस्त धर्म का साधन है। हमारी ज्ञान शक्ति, इच्छा शक्ति की भी अभिव्यक्ति का माध्यम शरीर है। स्वस्थ काया में स्वस्थ मन निवास करता है। जीवन के सुख के लिये स्वस्थ मन आवश्यक है। इस स्वस्थ मन के लिये शरीर का स्वस्थ होना आवश्यक है। शरीर के स्वास्थ्य के लिये शारीरिक शिक्षा का महत्व सभी ने स्वीकार किया है। यह उक्ति प्रसिद्ध है कि बाहुबल से रक्षित राष्ट्र ही शास्त्र का चिन्तन कर सकता है। **शारीरिक शिक्षा से बालकों में जो पौरुष, बल एवं शक्ति का विकास होगा, उसी से हमारे देश में अध्ययन, अनुसंधान, देश की सीमा की रक्षा, विश्व में शांति, कल–कारखानों तथा खेत–खलिहानों में उत्पादन की वृद्धि सम्भव होगी।** शारीरिक प्रशिक्षण से छात्रों में सामूहिक भावना, अनुशासन एवं व्यवस्थित कार्य करने की अभूतपूर्व क्षमता उत्पन्न होती है। उससे स्वस्थ समाज का निर्माण होता है। इस प्रकार शारीरिक शिक्षा व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है।

स्वामी विवेकानन्द ने शारीरिक बल पर अत्यधिक आग्रह किया है। उनके शब्दों में–"अनन्त शक्ति ही धर्म है। बल पुण्य है और दुर्बलता पाप। सभी पापों और सभी

बुराइयों के लिये एक ही शब्द पर्याप्त है और वह है—दुर्बलता..... आज हमारे देश को जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है लोहे की मांसपेशियाँ और फौलाद के स्नायु, दुर्दमनीय प्रचण्ड इच्छाशक्ति, जो सृष्टि के गुप्त तथ्यों और रहस्यों को भेद सके और जिस उपाय से भी हो अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ हो, फिर चाहे उसके लिये समुद्र तल में ही क्यों न जाना पड़े—साक्षात् मृत्यु का ही सामना क्यों न करना पड़े। मेरे नवयुवक मित्रों! बलवान बनो। तुम को मेरी सलाह है। गीता के अभ्यास की अपेक्षा फुटबाल खेलने के द्वारा तुम स्वर्ग के अधिक निकट पहुँच जाओगे। तुम्हारी कलाई और भुजाएँ अधिक सुदृढ़ होने पर तुम गीता को अधिक अच्छी तरह समझोगे। तुम्हारे रक्त में शक्ति की मात्रा बढ़ने पर तुम श्रीकृष्ण की महान् प्रतिभा और अपार शक्ति को अच्छी तरह समझने लगोगे। तुम जब पैरों पर दृढ़ता के साथ खड़े होगे और तुमको जब प्रतीत होगा कि हम मनुष्य हैं, तब तुम उपनिषदों को और भी अच्छी तरह समझोगे और आत्मा की महिमा को जान सकोगे।"[1]

शारीरिक शिक्षा का शाब्दिक अर्थ तो 'शरीर की शिक्षा' है, परन्तु इसका भाव शरीर तक सीमित नहीं है। वास्तव में शारीरिक शिक्षा के द्वारा बालक का शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, नैतिक एवं आत्मिक विकास होता है, उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व सुगठित होता है। शारीरिक शिक्षा केवल शारीरिक क्रिया नहीं है। "शारीरिक शिक्षा, शिक्षा ही है। यह वह शिक्षा है जो शारीरिक क्रियाओं द्वारा बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व, शरीर, मन एवं आत्मा के पूर्ण विकास हेतु दी जाती है।"[2]

शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति में शारीरिक शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान है। खेल के मैदान में, धरती माता की धूल में ही बालक के व्यक्तित्व का वास्तविक गठन होता है। खेलों के द्वारा स्फूर्ति, बल, निर्णय—शक्ति, सन्तुलन, साहस, सतर्कता, आगे बढ़ने की वृत्ति, मिलकर काम करने की आदत, हार—जीत में समत्व—भाव, अनुशासनबद्धता आदि शारीरिक, नैतिक, सामाजिक एवं आत्मिक गुणों का विकास होता है। शारीरिक क्रियाकलापों में व्यक्ति खुलकर बाहर आता है। भीतर की कुछ कुण्ठाएँ, घुटन, निराशा आदि खेल की मस्ती में घुल जाती हैं। उत्साह उमड़ता है। क्रियाशीलता बढ़ती है, और उसे योग्य दिशा मिलती है। आनन्द की प्राप्ति होती है, और आनन्द में ही मानव के विकास की प्रेरणा निहित है।

शारीरिक शिक्षा के अंग

भारतीय मनोविज्ञान में मानव की भौतिक काया को स्थूल शरीर कहा गया है।

---

1. स्वामी विवेकानन्द—'शिक्षा', श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर।
2. शारीरिक शिक्षा एवं मनोविज्ञान के केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड का प्रतिवेदन।

इस स्थूल शरीर के दो भाग हैं। स्थूल देह को अन्नमय कोश एवं दूसरे भाग को प्राणमय कोश कहा गया है। अतः शारीरिक शिक्षा के अन्तर्गत अन्नमय कोश और प्राणमय कोश–दोनों का विकास सम्मिलित है। सामान्य भाषा में अन्नमय कोश के विकास को शारीरिक विकास एवं प्राणमय कोश के विकास को संवेगात्मक विकास कहा जाता है।

(1) शारीरिक विकास

उद्देश्य– शारीरिक विकास के तीन प्रधान उद्देश्य हैं:–

(1) शरीर को हृष्ट–पुष्ट, सुन्दर, सुडौल बनाना एवं उसकी क्षमताओं का विकास करना।
(2) शरीर के सभी अंगों एवं संस्थानों की क्रियाओं का सर्वांगपूर्ण, प्रणालीबद्ध और सामंजस्यपूर्ण विकास करना।
(3) शरीर का पूर्ण निरोग रहना। यदि शरीर में कोई दोष और विकृत्ति हो तो उसे सुधारना। विशेष रूप से आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों को निरोग एवं क्षमतावान् बनाना।

शारीरिक विकास के आवश्यक तत्त्व

शारीरिक विकास के निम्नांकित आवश्यक तत्व हैं:–

(1) भोजन–शारीरिक स्वास्थ्य के लिये भोजन का संतुलित एवं नियमित होना आवश्यक है। छात्रों को यह ज्ञान होना चाहिए कि सन्तुलित भोजन क्या होता है और भोजन नियमित समय पर और कितनी मात्रा में किस प्रकार करना चाहिए। पानी पीने के नियमों की जानकारी उपयोगी है। भोजन में स्वच्छता एवं पवित्रता का ध्यान रखना चाहिए। **यह जानना आवश्यक है कि हम अपने शरीर को सबल और स्वस्थ रखने के लिये भोजन करते हैं, स्वादेन्द्रिय को सुख देने के लिए नहीं।**

(2) स्वच्छता–शरीर को निरोग एवं स्वस्थ रखने के लिये स्वच्छता आवश्यक है। नियमित स्नान के द्वारा शरीर को स्वच्छ रखना, दाँत, नाखून, वस्त्र आदि की स्वच्छता, रहने, बैठने के स्थान आदि की स्वच्छता–इन पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(3) विश्राम–शरीर को समुचित विश्राम मिलना चाहिए। विश्राम अथवा सोने की अवधि आयु के अनुसार अलग–अलग हो सकती है। सोने का स्थान बिल्कुल शान्त और हवादार होना चाहिए। स्नायुओं को आराम पहुँचाने के लिये पूर्ण निद्रा

आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को जाग्रत अवस्था में मांसपेशियों और स्नायुओं को विश्राम देने की विधि जाननी चाहिए। योगासनों में शवासन या शिथिलीकरण की क्रिया इसके लिये बहुत उपयोगी है।

(4) व्यायाम—शरीर के विकास के लिये मांसपेशियों में अच्छी गति और सन्तुलित वृद्धि लाने के लिये प्रतिदिन व्यायाम आवश्यक है। बालकों के दैनिक कार्यक्रम में व्यायाम, खेल—कूद को अच्छा स्थान देना चाहिए। **रीढ़ की हड्डी और जोड़ों का कड़ा पड़ जाना रुकना चाहिए। यह शरीर के स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। इसके लिये योगासनों का अभ्यास बहुत उपयोगी है। इनसे शरीर नमनीय एवं लचीला, सुन्दर, सुडौल बनता है।**

(5) सद्विचार एवं नियमितता—जीवन में सद्विचार, नियमितता तथा स्वस्थ आदतों का शारीरिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहता है। छोटी आयु से ही बालकों में शारीरिक स्वास्थ्य, शक्ति, सामर्थ्य और सुन्दर, सुडौल शरीर के प्रति आदर का भाव सिखाना चाहिए। अच्छी आदतों, अच्छे विचारों का शारीरिक स्वास्थ्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। **ब्रह्मचर्य की साधना शरीर को बलशाली, सुन्दर, सुडौल और अदम्य क्षमतावान बनाती है। इसका महत्त्व छात्रों को यथासमय बताना चाहिए।**

(2) प्राणिक विकास

प्राण तत्व क्रियात्मक ऊर्जा है, जो हमारे जीवन की समस्त क्रियाओं का आधार है। इसे जीवन—शक्ति भी कहते हैं। जिस प्रकार विद्युत तार में व्याप्त होकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाकर बल्बों आदि में प्रकाश रूप में प्रकट होती है, उसी प्रकार प्राण तत्त्व हमारे देह में फैले गति—वाहकसूत्रों (तन्त्रिका—तन्त्र) के माध्यम से सम्पूर्ण शरीर के अंग—प्रत्यंग में व्याप्त है। वायु प्राण तत्त्व का वाहक है। यह स्थूल देह का जीवन तथा सम्पूर्ण कार्य करने वाला बल है। हमारे संवेग, क्रोध, भय, लोभ, उत्साह, निराशा, भूख—प्यास, कामना आदि मूल प्रवृत्तियाँ प्राण के कार्य के ही अंग हैं।

जिस प्रकार स्थूल शरीर के हाथ—पैर आदि अंग एवं अंगुली आदि उपांग हैं, उसी प्रकार इस प्राणमय कोश के भी अंग—उपांग हैं। इनमें 5 अंग हैं और 5 उपांग हैं जो इस प्रकार हैं—

(1) अपान—अपान का गति—क्षेत्र नाभि से आपाद—तल है। इसका कार्य शरीर के अन्दर के मल आदि को बाहर निकालना है।

(2) समान—हृदय से नाभि तक इसका निवास एवं कार्य—क्षेत्र है। भोजन की पाचन—क्रिया का सम्पादन करना एवं भोजन से बने रस को यथास्थान वितरित

करके देह को पुष्ट करना इसका कार्य है।

(3) प्राण—इसका निवास—स्थान एवं कार्य—क्षेत्र मुख से हृदयपर्यन्त है। यह श्वास—प्रश्वास के रूप में नासिका से हृदय पर्यन्त गमन करता है। वर्णों के उच्चारण में सहायता देना, भोजन को आमाशय में धकेलना, स्वेद बनाना, रक्त में ऊष्मा बनाये रखना, रक्त—संचार करना, भूख—प्यास लगना इसी के कार्य हैं।

(4) उदान—इसका गति—क्षेत्र कण्ठ से कपाल तक है। वमन, वर्णोच्चारण और गायन में सहायता करना तथा देह को ऊपर उठाये रखकर सन्तुलन बनाये रखना इसके कार्य हैं।

(5) व्यान—समस्त देह में व्याप्त रहकर ज्ञानवाहक स्थूल—सूक्ष्म नाड़ियों को गतिशील बनाये रखना इसका कार्य है।

उपप्राण

(1) देवदत्त—नासिका इसका स्थान है। छींक लाना इसका कार्य है।

(2) कृकल—स्थान कण्ठ। जृम्भा (जंभाई) लाना तथा भूख—प्यास उत्पादक माना जाता है।

(3) कूर्म—नेत्रों के पलकों में इसकी गति रहती है। निमेष—उन्मेष रूप पलकों को झपकाने का कार्य करता है।

(4) नाग—इसका स्थान मुख है। डकार, हिचकी लाना इसके ही कार्य हैं।

(5) धनंजय—समस्त देहव्यापी है। गमनागमन में सहायक एवं देहपोषक है।

प्राणिक शिक्षा के उद्देश्य

प्राण के विकास के दो प्रधान रूप हैं—

1. इन्द्रियों का विकास एवं उनका उपयोग करना

देखना, सुनना, सूँघना, चखना और स्पर्श — ये हमारी ज्ञानेन्द्रियों के आधार हैं। यदि समुचित साधना का अनुसरण किया जाय तो इन इन्द्रियों की संवेदनशीलता एवं इनकी चेतना का पर्याप्त विस्तार किया जा सकता है तथा इनके द्वारा दूर की वस्तुओं का भी सही रूप में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इन्द्रियों के प्रशिक्षण में यह बात भी महत्वपूर्ण है कि सामान्य शिक्षा के साथ उनके व्यापारों में सुन्दर, स्वस्थ और शुद्ध वस्तु को ग्रहण करने का अभ्यास कराया जाय। इसी को सौन्दर्य—बोध और विवेक कहा जाता है।

2. चरित्र का विकास

प्राणिक विकास में अवांछनीय मूल प्रवृत्तियों—क्रोध, काम, लोभ, ईर्ष्या आदि का

रुपान्तरण करके अच्छे संवेगों के विकास के द्वारा उत्साह, मिलकर काम करने की आदत, साहस, आगे बढ़ने की वृत्ति, हार–जीत में समभाव, अनुशासन, सहनशीलता, प्रफुल्लता, क्रियाशीलता आदि अच्छे गुणों का निर्माण बालक के चरित्र में करना चाहिए।

ये गुण शारीरिक क्रिया–कलापों एवं खेल–कूद के माध्यम से विकसित किये जा सकते हैं। **बालक में संकल्प की दृढ़ता का विकास एक बार हो जाय तो अच्छी आदतों का निर्माण करना सरल हो जाता है।** आत्म–निरीक्षण और आगे बढ़ने की इच्छा, असफलता में हार न मानना, यह अभ्यास प्राणिक विकास की सही प्रक्रिया है। इसी के द्वारा बुरी आदतों से छुटकारा पाया जा सकता है और अच्छी आदतों का विकास किया जा सकता है। संवेगों के नियन्त्रण में योगासनों एवं प्राणायाम की साधना बहुत सहायक सिद्ध होती है। इनके अभ्यास से तन्त्रिका–तन्त्र संस्थान एवं ग्रन्थियों के स्राव की क्रिया में सन्तुलन स्थापित होता है। इस प्रकार हमारे संवेगों का नियन्त्रण एवं रुपान्तरण होता है।

शारीरिक शिक्षा एवं आध्यात्मिकता

मानव शरीर भोग–विलास एवं इन्द्रियों के सुख देने मात्र का माध्यम नहीं है, अपितु अपने जीवन–लक्ष्य 'भगवत्–प्राप्ति' का यह साधन है। वेदों में शरीर का 'अयोध्या नगरी' के रूप में वर्णन किया गया है–

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानांपुर्ययोध्या,
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।

आठ चक्रों एवं नौ द्वारों वाली अयोध्या नामक देवपुरी में प्रकाशरूप आत्मा वास करता है।

'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्' आदि वाक्यों के द्वारा इस मानव–शरीर की महत्ता का वर्णन भारतीय वाङ्मय में स्थान–स्थान पर मिलता है। अतः अपने शरीर के प्रति यह भारतीय आध्यात्मिक दृष्टिकोण बालकों में निर्मित करना आवश्यक है शिक्षा के लक्ष्यों की प्राप्ति का आधार भी हमारा यह शरीर ही है। इस प्रकार अपने शरीर के प्रति सम्मान का स्थायी भाव छात्रों में विकसित करना चाहिए। आज की पश्चिमी भौतिकवादी सभ्यता के प्रभाव के कारण भारतीय युवक शरीर के प्रति इस स्वस्थ दृष्टिकोण से वंचित होते जा रहे हैं। शारीरिक शिक्षा के इस आध्यात्मिक पक्ष की ओर ध्यान देने की इस समय अतीव आवश्यकता है।

शारीरिक शिक्षा के सहगामी क्रियाकलाप

एन. सी. सी., राष्ट्रीय सेवा योजना, स्काउटिंग आदि

बालकों को खेलों के द्वारा अच्छे नागरिक बनाने में स्काउटिंग सहयोग देती है। स्काउटिंग एक अन्तर्राष्ट्रीय लहर है। इसका आरम्भ इंग्लैण्ड में 1907 में लार्ड वेडन पावल ने किया। भारत में इस आन्दोलन को महामना पण्डित मदन–मोहन मालवीय, श्रीराम वाजपेयी एवं पण्डित हृदयनाथ कुंजरू ने अथक परिश्रम के साथ फैलाया। इसका उद्देश्य विभिन्न शारीरिक क्रियाकलापों के माध्यम से ईश्वर–भक्ति, देश–सेवा, कर्त्तव्यपरायणता, आत्मानुशासन, सेवावृत्ति आदि नैतिक गुणों का विकास करना है। शारीरिक शिक्षा के साथ यह गतिविधि उपयोगी सिद्ध होती है अतः प्रत्येक विद्यालय में स्काउटिंग कार्यक्रम अवश्य चलाना चाहिए। इसका प्रशिक्षण प्रत्येक छात्र के लिये आवश्यक है। इसके सम्बन्ध में विस्तार से जानकारी प्राप्त करने के लिये स्काउटिंग एवं गाइडिंग सम्बन्धी साहित्य का अध्ययन करना चाहिए जो पर्याप्त मात्रा में प्रकाशित हो चुका है। इसी प्रकार उच्च शिक्षा के छात्रों के लिये एन. सी. सी. और राष्ट्रीय सेवा योजना की गतिविधियाँ भी उपयोगी हैं। सैनिक शिक्षा एवं सेवा–योजना सम्बन्धी शिविरों के आयोजन से छात्रों में अनुशासन, साहस, देशभक्ति, समाज–सेवा आदि गुणों का विकास होता है। युवक छात्रों की शारीरिक एवं प्राणिक शक्ति का रचनात्मक दिशा में रूपान्तरण करने के लिये ये कार्यक्रम अच्छे साधन बन सकते हैं।

प्राथमिक चिकित्सा–प्रशिक्षण

चोट लगने, रक्त बहने, हड्डी टूटने, मोच आने, विषैले कीड़े आदि के काटने जैसी आकस्मिक दुर्घटनाएँ प्रायः घटती रहती हैं। ऐसी स्थिति में अनेक बार चिकित्सक की तुरंत सहायता प्राप्त होने में विलम्ब हो जाता है। इसके कारण रोगी को असह्य कष्ट होता है और कभी–कभी इस विलम्ब के कारण रोग के बढ़कर असाध्य होने का भी भय रहता है। अतः यह आवश्यक है कि रोगी को तत्काल घटनास्थल पर ही कुछ ऐसा उपचार उपलब्ध हो जाय जिससे उसे आराम पहुँचे और उसकी दशा बिगड़ने न पाये। घटनास्थल पर किये जाने वाले इस प्राथमिक उपचार को ही 'प्राथमिक चिकित्सा' कहते हैं। छात्रों को इस प्राथमिक चिकित्सा का प्रशिक्षण देने की व्यवस्था प्रत्येक विद्यालय को करनी चाहिए। इससे छात्रों के ज्ञान एवं कुशलता में तो वृद्धि होगी ही, साथ ही यह प्रशिक्षण इस प्रकार के घटना–स्थल पर उपयोगी भी सिद्ध होगा। इसके द्वारा उनमें सेवा–भाव का विकास भी होगा। प्राथमिक चिकित्सा का ज्ञान बालक के जीवन में सदैव उपयोगी होगा।

घोषवादन (बैण्ड)

आपने देखा होगा कि सेना में संचालन के अवसर पर घोषवादन कितना अच्छा लगता है। घोषवाद्यों की सामूहिक ध्वनि प्रत्येक सुनने वाले व्यक्ति के मन में एक

उत्साह की लहर उत्पन्न कर देती है। घोषवादन संगीत कला का ही अंग है। शारीरिक शिक्षा के अन्तर्गत प्राणिक विकास के लिये इसकी संगीत–ध्वनि बहुत सहायक होती है। छात्रों में अनुशासन, आनन्द और उत्साह की भावना का जागरण होता है। तन्त्रिका–तन्त्र एवं ग्रन्थियों के स्राव पर इसका प्रभाव पड़ता है, जिसके कारण संवेगों का रुपान्तरण होने में सहायता मिलती है। छात्रों को इसका प्रशिक्षण देना चाहिए तथा शारीरिक कार्यक्रमों, संचलन, सामूहिक व्यायाम आदि अवसरों पर घोषवादन का प्रयोग करना चाहिए। इसके कारण मधुर वातावरण का निर्माण होगा। छात्रों में शारीरिक कार्यक्रमों के प्रति रुचि बढ़ेगी, आनन्द और उत्साह की भावना का जागरण होगा। इस प्रकार शारीरिक एवं प्राणिक विकास में सहायता मिलेगी। प्रायः अच्छे विद्यालय अपने यहाँ घोषवाद्य वृन्दों की व्यवस्था करते हैं।

शारीरिक शिक्षा का ज्ञानात्मक पक्ष

यद्यपि शारीरिक शिक्षा व्यावहारिक अधिक है, किन्तु इसका ज्ञानात्मक पक्ष समुचित विकास के लिये वांछनीय है। अतः विद्यालय की समय–सारिणी में शारीरिक विकास के सिद्धान्त पक्ष का ज्ञान कराने की दृष्टि से कुछ वेलाएँ अवश्य निर्धारित होनी चाहिए। स्वास्थ्य के महत्त्व पर समय–समय पर व्याख्यानों के आयोजन भी छात्रों में स्वास्थ्य के प्रति चेतना जाग्रत करने में उपयोगी होते हैं। पुस्तकालय में शारीरिक शिक्षा एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी अच्छे ग्रन्थों एवं पत्र–पत्रिकाओं की व्यवस्था होनी चाहिए तथा छात्रों को इनके स्वाध्याय के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए।

शरीर–रचना एवं क्रिया–विज्ञान का सामान्य ज्ञान, अच्छे स्वास्थ्य के नियम, खेलों का इतिहास, उनके नियम, खेल–संगठनों का परिचय आदि विषयों का ज्ञान छात्रों को उपलब्ध हो सके, इसकी व्यवस्था आवश्यक है।

(2) व्यावसायिक शिक्षा

व्यावसायिक शिक्षा शारीरिक शिक्षा का ही अंग है, क्योंकि इसका सम्बन्ध शरीर के अन्नमय कोश एवं प्राणमय कोश से है। किन्तु महत्त्वपूर्ण विषय होने के कारण एवं विचार की सुविधा के लिये व्यावसायिक शिक्षा का हमने पृथक् विवेचन करना ही उपयुक्त समझा। व्यावसायिक शिक्षा जीविकोपार्जन हेतु शिक्षा का पर्याय है। जीविका जीवन के निर्वाह का आवश्यक साधन है। शिक्षा का सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवन से है। अतः जीविकोपार्जन की शिक्षा भी सम्पूर्ण शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग है। **किन्तु आजकल जीविका शिक्षा का परम लक्ष्य बन गई है।** अधिकांश विद्यार्थी जीविका के लिये ही पढ़ते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान का इतना महत्व नहीं है। दूसरी

ओर आज की शिक्षा जीविका के लक्ष्य की पूर्ति भी नहीं कर पाती। जीविका सम्पूर्ण शिक्षा का लक्ष्य नहीं हो सकती, परन्तु शिक्षा के एक अंग के रूप में उसका स्थान अपरिहार्य है। प्राचीन भारतीय शिक्षा में जीविका की शिक्षा का स्थान था, परन्तु दृष्टि विस्तृत थी। उस काल में शिक्षा के अन्तर्गत जीवन के सभी अनुभव, शिक्षा और दीक्षा, सब समाहित थे तथा व्यक्ति को सामाजिक दृष्टि से उपयुक्त वृत्ति ग्रहण करने योग्य बनाया जाता था। आज दृष्टि संकुचित एवं स्वार्थ–केन्द्रित हो गई है। व्यक्ति जीविका का चयन अपने लाभ और अपनी प्रगति के अवसर को ध्यान मं रखकर करता है, समाज या देश की आवश्यकता का विचार नहीं करता। इसके कारण देश में जीविका प्रदान करने की व्यवस्था में सन्तुलन बिगड़ गया है। यद्यपि इसके लिये प्रचलित शिक्षा–पद्धति भी उत्तरदायी है।

आज आवश्यकता है ऐसी शिक्षा–व्यवस्था की, जो जीविका के प्रयोजन को पूर्ण कर सके और शिक्षा के व्यापक उद्देश्य के साथ उसका समुचित समन्वय कर सके। राष्ट्र की समृद्धि एवं आर्थिक संपन्नता के लिये भी व्यावसायिक शिक्षा की उपयुक्त व्यवस्था आवश्यक है। स्वामी विवेकानन्द ने प्रचलित शिक्षा की आलोचना करते हए कहा है–"आँख खोलकर देखो, जो भारतखण्ड अन्न का अक्षय भण्डार रहा है, आज वहीं उसी अन्न के लिये कैसी करुण पुकार उठ रही है! क्या तुम्हारी शिक्षा इसकी पूर्ति करेगी?... हमें यान्त्रिक और ऐसी सभी शिक्षाओं की आवश्यकता है जिनसे उद्योग–धन्धों की वृद्धि और विकास हो, जिससे मनुष्य नौकरी के लिये मारा–मारा फिरने के बदले अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त कमाई कर सके और आपातकाल के लिये संचय भी कर सके।"[1]

व्यावसायिक शिक्षा का हमें समग्र राष्ट्र के परिप्रेक्ष्य में विचार करना होगा। **प्रचलित शिक्षा–पद्धति देश में एक ऐसे अभिजात वर्ग का निर्माण कर रही है जो केवल बौद्धिक काम करना पसन्द करता है और हाथ से या शरीर से काम करना निम्न श्रेणी का मानता है।** शरीरिक श्रम को हेय दृष्टि से देखा जाता है। परिणामतः वर्तमान शिक्षित समाज का जीवन बनावटी हो गया है। कम–से–कम श्रम करके अधिक–से–अधिक सुविधायें या भोग–सामग्री जुटा लेना उसके जीवन का मार्ग बन गया है। इस स्थिति को बदलने की आवश्यकता है।

हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि **भारतवर्ष की 80 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामों में निवास करती है जो किसान, कारीगर और श्रमिक हैं और निरक्षरता एवं निर्धनता से ग्रसित हैं। परन्तु निरक्षरता और निर्धनता के होते हुए भी ग्रामीण जन–समाज में विवेक, संस्कार और धर्मबुद्धि है।**

---

1. स्वामी विवेकानन्द–'शिक्षा', श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृष्ठ 4

अतः हमें ऐसी शिक्षा–प्रणाली चाहिए जो उनकी परम्परा एवं संस्कृति से उनको अपदस्थ न करे, परन्तु साथ ही बौद्धिक शिक्षा तथा विज्ञान की नवीन प्रविधि (टैक्नीक) के प्रति अभिरुचि भी उत्पन्न करे।

भारतीय पृष्ठभूमि में व्यावसायिक शिक्षा का जब हम विचार करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि **केवल शिक्षा के माध्यम से आजीविका–समस्या हल नहीं हो सकती। शिक्षा किसी व्यक्ति को व्यवसाय अथवा धन्धा देने की 'गारण्टी' नहीं दे सकती। शिक्षा के द्वारा कुशलताओं एवं ऐसे गुणों का विकास होता है जो व्यवसाय एवं धन्धे को भली प्रकार निर्वाह करने में सहायक होते हैं।** व्यवसाय व धन्धों की उपलब्धि सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर है। प्राचीन भारत में वर्ण–व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति को जीविका का साधन प्रदान करने की सर्वोत्तम व्यवस्था थी, कालान्तर में भले ही इस वर्ण–व्यवस्था ने विकृत रूप ध ारण कर लिया हो। वर्तमान शिक्षा–प्रणाली उन पैतृक या परम्परागत व्यवसायों एवं उद्योगों को ध्वस्त करने में संलग्न है और विकल्प में नवीन व्यवस्था देने में असमर्थ है। इसके फलस्वरूप ग्रामीण जनसंख्या नगर की ओर पलायन करती जा रही है और भारत की समस्त सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में घोर अराजकता व्याप्त है। **अतः हमें शिक्षा की ऐसी अवस्था की आवश्यकता है जो पैतृक या परम्परागत उद्योग–व्यवसाय की विध्वंसक न होकर उसका परिमार्जन एवं विकास करने वाली हो।**

भारतीय सन्दर्भ में हमें इस बात की भी सावधानी रखनी होगी कि **आधुनिक विज्ञान एवं प्रविधि (तकनीक) को अपनाने के नाम पर हम पश्चिम का अन्धानुकरण न करें।** इसमें सन्देह नहीं कि देश के आर्थिक विकास के लिये हम विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी (टैक्नोलॉजी की सहायता लेंगे, किन्तु विज्ञान और प्रौद्योगिकी हमारे जीवन के आधार बन गये तो डा. राधाकृष्णन के शब्दों में 'राक्षस राज्य' की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। अत्यधिक औद्योगीकरण भारत की समस्या को हल करने के स्थान पर राष्ट्र–जीवन को ध्वस्त कर देगा। गांधी जी ने एक बार कहा था कि "भारत में भारी औद्योगीकरण तभी सफल हो सकता है जब हम किसी उपाय से भारत की जनसंख्या घटाकर दशमांश कर लें और उसे कुछ नगरों में लाकर बसायें।" अतः उद्योगों की स्थापना केवल राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति के लिये होनी चाहिए। भारी उद्योगों के स्थान पर कृषि–आधारित छोटे उद्योगों की विकेन्द्रित व्यवस्था होनी चाहिए। भारत कृषिप्रधान देश है और ग्रामों में बसा है। हमें ऐसी शिक्षा–व्यवस्था चाहिए जिसमें कृषि–शिक्षा केन्द्रीय विषय हो और जिससे हमारे ग्राम–जीवन का विकास हो।

प्रचलित शिक्षा से सम्बन्धित एक बात और महत्वपूर्ण है, वह यह है कि आज

की शिक्षा अत्यधिक व्यय–साध्य है। इस प्रणाली में छात्र, छात्र के अभिभावकों और राज्य पर अत्यधिक बोझ पड़ता है। यह व्यय दिन–पर–दिन बढ़ता ही जा रहा है। निर्धन तो शिक्षा प्राप्त ही नहीं कर सकते और जो करते हैं उसका भार राज्य पर पड़ता है तथा उसके फलस्वरूप समाज को शिक्षा के लिये राज्याश्रित होना पड़ता है। अतः भारत जैसे निर्धन देश में शिक्षा को यदि जनसाधारण तक पहुँचाना है तो उसे अपने परिवार, ग्राम और समाज के लिये उपयोगी एवं स्वावलम्बी बनाना होगा। इसके लिये शिक्षा में किसी उद्योग को केन्द्रीय विषय बनाना होगा, जिसके उत्पादन से शिखा का व्यय पूर्ण नहीं तो कुछ अंश निकल सके। कुछ निर्धन वर्ग तो ऐसे हैं जिनके कम आयु के बालक भी पारिवारिक जीविकोपार्जन में माता–पिता का हाथ बँटाते हैं। इन बालकों के लिये तो ऐसी शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी जिससे शिक्षा के साथ–साथ कमाई करके अपने माता–पिता को कुछ दे सकें।

गाँधी जी ने भारत की समग्र पृष्ठभूमि का विचार किया और 'बेसिक शिक्षा' पद्धति के नाम से देश को एक नयी शिक्षा की योजना दी। एक गरीब देश में कोटि–कोटि निरक्षर जनता को साक्षर बनाने तथा उसमें प्राचीन संस्कृति की नींव पर नवीन जीवनोन्मेष लाने वाली शिक्षा–योजना किस प्रकार बनायी जा सकती है, यह प्रश्न गांधी जी के सम्मुख था। बहुत चिन्तन और मनन के पश्चात् गांधी जी ने 1937 में अपनी शिक्षण की योजना प्रस्तुत की। किन्तु गांधी जी की शिक्षा–योजना को शिक्षा–जगत् से सम्बद्ध लोगों ने हृदय से समर्थन नहीं दिया। उसे ठीक प्रकार से समझने का प्रयास भी नहीं किया। साथ ही उसका विरोध भी नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि क्रियान्वयन के चरण में आकर 'बेसिक शिक्षा योजना' को असफलता का मुख देखना पड़ा।

कोठारी शिक्षा–आयोग ने गांधी जी की बेसिक शिक्षा योजना की भूमिका पर कार्यानुभव को सामान्य शिक्षा में आवश्यक विषय के रूप में रखने की संस्तुति की है।[1] आयोग ने उच्चतर माध्यमिक स्तर पर दो वर्ष का व्यावसायिक पाठ्यक्रम चलाने की अनुशंसा भी की है। यह एक अच्छा विचार है। इसके क्रियान्वयन की कठिनाई मुख्य है। शासन की ओर से इसके अतिरिक्त पर्याप्त संख्या में (आई.टी. आई.) औद्योगीकरण प्रशिक्षण संस्थान, पौलीटैक्निक आदि व्यावसायिक शिक्षा संस्थाएँ खोली गयी हैं। **उच्च शिक्षा–स्तर पर चिकित्सा, वकालत, अभियांत्रिकी**

1- "As another programme to relate education to life and productivity, we recommend that work-experience should be introduced as an integral part of all education – general or vocational. We define work-experience as participation in productive work in the school, in the home, in a workshop, on a farm, in a factory or in any other productive situation." Report of the Education Commission 1964-66, page 13.

आदि स्नातक स्तर के पाठ्यक्रम चल रहे हैं। इन सब पाठ्यक्रमों में एक बहुत बड़ा अभाव है कि छात्र विशुद्ध तन्त्रज्ञ के रूप में प्रशिक्षण प्राप्त करता है। इन पाठ्यक्रमों में विशुद्ध बौद्धिक व्यायाम होता है। उसमें भावात्मक और नैतिक पक्ष की उपेक्षा की जाती है। इसका परिणाम यह है कि इन संस्थानों से निकलने वाले चिकित्सक, अभियन्ता आदि हृदय की शिक्षा से शून्य रहते हैं। श्री अरविन्द इस ओर हमारा ध्यान बहुत पहले आकृष्ट कर चुके हैं। उन्हीं के शब्दों में, "बौद्धिक रूप से विकसित मनुष्य जो वैज्ञानिक ज्ञान में बहुत बड़ा हो, जो स्थूल और सूक्ष्म प्रकृति का स्वामी हो, जो पंच तत्त्वों का दास के रूप में, जगत् का पादपीठ के रूप में उपयोग करता हो, **वह मनुष्य यदि हृदय और भावना में अविकसित हो तो एक निम्न प्रकार का असुर बन जाता है** जो अर्द्धदेव की शक्तियों का उपयोग पशु के स्वभाव को संतुष्ट करने के लिये करता है।"[1] **अतः इन व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में भावनात्मक शिक्षण हेतु इतिहास, धर्म, दर्शन और साहित्य आदि विषयों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। जिससे हृदय–पक्ष का पोषण हो सके।**

विद्यालयीन स्तर पर व्यावसायिक शिक्षा एवं उसके उद्देश्य

अब तक के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि व्यावसायिक शिक्षा सामान्य शिक्षा का अंग होनी चाहिए। इसका नामकरण कार्यानुभव, शिल्प (दस्तकारी), समाजोपयोगी उत्पादक कार्य इत्यादि कुछ भी हो सकता है। यह विषय प्राथमिक से विद्यालयीन शिक्षा के समाप्त होने तक बालक की सामान्य शिक्षा के साथ सिखाना चाहिए। व्यावसायिक शिक्षा में उद्योग या व्यवसाय की विषयवस्तु का चयन विद्यालय के स्थानीय परिवेश के अनुरूप होना चाहिए।

व्यावसायिक शिक्षा का शाब्दिक अर्थ व्यवसाय की शिक्षा है, किन्तु इसका भाव व्यावसायिक नहीं है। वास्तव में व्यावसायिक शिक्षा के माध्यम से बालक का शारीरिक, प्राणिक, मानसिक एवं आत्मिक अर्थात् सम्पूर्ण विकास होता है। भगिनी निवेदिता ने शिल्प (दस्तकारी) की शिक्षा (मेन्युअल ट्रेनिंग) पर अत्यधिक बल देते हुए कहा है कि "शिल्पकला में प्रशिक्षित बालक गणित एवं अन्य विषयों की शिक्षा में उन छात्रों से अच्छा काम करते पाये जाते हैं जो शिल्पकला में शिक्षण प्राप्त नहीं

---

1. श्री अरविन्द–'शिक्षा के आयाम', अरविन्द सोसायटी, पाण्डिचेरी, पृष्ठ 29
2- "We invariably find that a manual training boy can do better work in mathematics and in other studies requiring original thought than one who has not got this training."—Sister Nevedita-Hints on National Education in India, page 177.

करते।"[2]

बालक के व्यक्तित्व का सुसंगत विकास करने के लिये, उसके मानसिक विकास के लिये केवल कुछ विषयों का अध्ययन ही नहीं अपितु ऐसे अवसर प्रदान करने चाहिए कि वह हाथ से काम कर सके और उसके प्रति सही दृष्टिकोण बना सके। पाठशाला और कर्म–जगत् के मध्य की वर्तमान खाई को पाटने की भी आवश्यकता है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में कर्म की प्रक्रिया और शिल्प तीव्र गति से परिवर्तित हो रहे हैं। छोटी आयु में ही बालक को व्यावसायिक शिक्षा के माध्यम से इससे परिचित कराना समय की आवश्यकता है।

व्यावसायिक शिक्षा के माध्यम से ऐसे ज्ञान, कुशलताओं और अभिवृत्तियों का विकास होता है, जिनकी सहायता से बालक भविष्य में उत्पादन–कार्यों में अपनी भूमिका अच्छी प्रकार से निभा सकता है। व्यावसायिक शिक्षा में उत्पादन, रख–रखाव, प्रविधियों के साथ–साथ, मानव–सम्बन्धों, संघटन एवं प्रबन्ध तथा विपणन आदि को सम्मिलित किया जाना चाहिए। इसके द्वारा बालक की कुशलताओं और व्यावहारिक ज्ञान का विस्तार होता है।

व्यावसायिक शिक्षा के द्वारा हाथ से काम करने के प्रति उचित दृष्टिकोण का विकास, श्रम के प्रति आदरभाव जाग्रत होना चाहिए। **बौद्धिक कार्य करने वाले श्रेष्ठ हैं और हाथ से कार्य करने वाले कारीगर आदि निम्न स्तर के हैं, समाज में व्याप्त इस गलत धारणा को समाप्त करने की आवश्यकता है।** व्यावसायिक शिक्षा के अन्तर्गत भली–भाँति निर्देशित कार्यक्रम में उन लाभदायक व्यवसायों के प्रति सम्मान का भी विद्यार्थी को पता चलेगा जिनके लिये विशेष प्रवीणता, शारीरिक क्षमता, सहयोगियों के प्रति सद्भाव और दिये गये कार्य की पूर्ति तथा कर्त्तव्य–पालन की सजगता की आवश्यकता होती है। इस प्रकार छात्र में अनेक नैतिक एवं सामाजिक गुणों का विकास होगा।

प्राथमिक स्तर पर उपलब्ध स्थानीय सामग्री और सरल उपकरणों (औजारों) से होने वाले छोटे–छोटे सर्जनात्मक और आत्माभिव्यक्ति वाले कार्य कराये जाने चाहिए। माध्यमिक स्तर पर एक ही व्यवसाय कार्य के विभिन्न स्तरों पर उपलब्ध कराकर छात्रों को व्यवसाय विशेष में प्रवीणता से आठवीं या दसवीं कक्षा के पश्चात् उसे उस कार्य को नियमित व्यवसाय के रूप में अपनाने में सहायता प्राप्त होगी। माध्यमिक कक्षाओं के छात्रों को खेत, कारखाने या आसपास के किसी उद्योग में कुछ काम करने का अनुभव भी कराया जाना चाहिए।

व्यावसायिक शिक्षा के कार्यक्रम को सही ढंग से नियोजित किया जाना चाहिए, जिससे विद्यार्थियों के लिये आय का साधन भी बन सके। विद्यालय के उपयोग में आने वाली सामग्री, जैसे–फाइल कवर, रजिस्टर, कॉपियाँ, चौक, स्याही, डस्टर

आदि सामग्री यदि छात्रों से तैयार करायी जाय तो पर्याप्त मात्रा में धन की बचत की जा सकती है। इस प्रकार घरेलू उपयोग की अनेक प्रकार की वस्तुएँ– साबुन, तेल, सर्फ, त्रिफला चूर्ण, पिसे हुए मसाले आदि भी आय के अच्छे साधन बन सकते हैं।

उत्पादक कार्य सर्जनात्मक एवं आत्माभिव्यक्ति के विकास का सर्वोत्तम साधन है। व्यावसायिक शिक्षा एक प्रकार की कला है। बालक अपने विचारों और भावों को इसके माध्यम से मूर्त रूप देता है। ज्ञान, भावना और क्रिया का इसमें सुन्दर समन्वय होता है। सृजन में आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति होती है, जो कि कला का वास्तविक लक्ष्य है। इसके द्वारा बालक की कल्पना, निरीक्षण, विश्लेषण, संश्लेषण, तुलना, विभेदन आदि अनेक सूक्ष्म मानसिक शक्तियों का विकास होता है। इस प्रकार व्यावसायिक शिक्षा का उद्देश्य बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना है।

(3) मानसिक शिक्षा

मानसिक शिक्षा का सन्दर्भ मनोमय कोश एवं विज्ञानमय कोश से है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों सहित मन से युक्त मनोमय कोश क्रिया–प्रधान है। बुद्धि तत्व सहित विज्ञानमय कोश ज्ञान एवं विचार प्रधान है। भारतीय मनोविज्ञान में इन दोनों कोशों को अन्तःकरण की संज्ञा दी है जिसके मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार, ये चार स्तर माने गये हैं। योगदर्शन में अन्तःकरण को चित्त कहा है। मन को छठी ज्ञानेन्द्रिय भी माना जाता है। मन का काम है विषय–वस्तु के बिम्ब को दृष्टि, श्रुति, ध्राण, स्वाद और स्पर्श द्वारा प्राप्त करना और फिर उन्हें विचार–संवेदनाओं में अनूदित करके निर्णय हेतु बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत करना। चित्त मानसिक संस्कारों का अर्थात् स्मृतियों का भण्डार है। अहंकार विषय–वस्तु का अहं अर्थात् मैं से–अपने से–सम्बन्ध जोड़ता है। बुद्धि मन के द्वारा प्रस्तुत विषय–वस्तु के बिम्ब को चित्त और अहंकार के आधार पर विचार कर निर्णय अर्थात् प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। अन्तःकरण की यह प्रक्रिया क्षणांश में सम्पन्न होती रहती है। सामान्य भाषा में अन्तःकरण को मन कहते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान में मस्तिष्क (ब्रेन) को ही मन (माइण्ड) कहते हैं। वहाँ मन का कोई अलग अस्तित्व नहीं माना है। भारतीय दृष्टि से अन्तःकरण मानसिक शिक्षा का उपकरण है।

साधारणतः मानसिक शिक्षा का अर्थ कुछ विषयों की जानकारी बालक के मस्तिष्क में भर देना समझा जाता है। प्रचलित शिक्षा–पद्धति मानव–मनोविज्ञान की घोर उपेक्षा करती है एवं बालक की उन नैसर्गिक शक्तियों और उपकरणों को क्षति पहुँचाती है जिनके द्वारा वह ज्ञान को आत्मसात् करता है, नयी सृष्टि करता है तथा मेधा शक्ति का विकास करता है। वास्तव में विभिन्न विषयों की जानकारी वह सामग्री

है जिसके माध्यम से ज्ञान का एवं मानसिक शक्तियों का विकास होता है। प्रचलित शिक्षा–पद्धति का मौलिक दोष यह है कि इसने अपने आपको स्मृति की संचयन–शक्ति के प्रशिक्षण और तथ्यों के संचय तक ही सीमित रखा है और उपयोग की तीन महान् क्षमताओं, अर्थात् तर्क–शक्ति, तुलना और भेद करने की शक्ति तथा अभिव्यक्त करने की शक्ति की उपेक्षा की है। **इसलिये सुधार का पहला पग ऐसा होना चाहिए जो हमारी शिक्षा के सारे लक्ष्य और उसकी पद्धति को बदल दे।**

हमें अपने अध्यापकों को इस बात के लिये अभ्यस्त करना चाहिए कि वे अपनी शक्ति के दस में से नौ भाग सक्रिय मानसिक क्षमताओं की शिक्षा में लगायें। निष्क्रिय और संचित रखने की क्षमता जिसे हम स्मृति कहते हैं, उसे स्थान तो मिलना चाहिए, परन्तु उसका स्थान उन क्षमताओं के नीचे होना चाहिए।

मानसिक शिक्षा के उद्देश्य

मानसिक शिक्षा के उद्देश्यों का दो मुख्य भागों में विचार कर सकते हैं– प्रथम, ज्ञानार्जन और द्वितीय, मानसिक शक्तियों एवं क्षमताओं का विकास। शिक्षा का प्रमुख कार्य मानसिक शक्तियों एवं क्षमताओं का विकास करना है। मानसिक शक्तियाँ विकसित होने पर शिक्षा का ज्ञानार्जन का लक्ष्य सहज प्राप्त हो जाता है। वास्तव में ज्ञानार्जन और मानसिक शक्तियों का विकास अन्योन्याश्रित हैं। मानसिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य ज्ञान के साथ विद्वता का विकास करना है। गीता में इसको 'ज्ञानं विज्ञान सहितम्' कहा है।[1]

1. ज्ञानार्जन

बालक जिस विश्व में रह रहा है उसका ज्ञान आवश्यक है। इस विश्व के ज्ञान को हम तीन भागों में समझने के लिये बाँट सकते हैं, यद्यपि ये परस्पर आश्रित हैं– (1) प्रकृति अर्थात् भौतिक जगत का ज्ञान, (2) समाज का ज्ञान, (3) अध्यात्म जगत् का ज्ञान। इस प्रकार हम शिक्षा की विषय–वस्तु को तीन रूपों में रख सकते हैं– हमारा प्रकृति से सम्बन्ध, समाज से सम्बन्ध तथा अध्यात्म जगत् अर्थात् मूल्यों से हमारा सम्बन्ध। भारतीय दर्शन में इसे 'अधिदैवम्', 'अधिभूतम्' और 'अध्यात्म' कहा है।[2]

---

1. इदं तु ते गुह्यतमं प्रक्ष्याम्यनसूयवे
   ज्ञानं विज्ञानं सहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।। – गीता 9–1
2. किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम
   अधिभूतं च कि प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।। – गीता 8–1

प्रकृति के ज्ञान में विज्ञान सम्बन्धी विभिन्न विषय आते हैं। सामाजिक ज्ञान में इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, भाषा आदि विषय तथा अध्यात्म ज्ञान में मानव के आन्तरिक जीवन की प्रेरणा, भावनाओं, आदर्शों, नैतिक मूल्यों का ज्ञान तथा धर्म, दर्शन, साहित्य आदि विषयों का अध्ययन आता है।

यह बात समझना आवश्यक है **कि विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति–शास्त्र आदि विषयों के ज्ञान का मुख्य उद्देश्य यह है कि इनके ज्ञान का उपयोग हम अपने राष्ट्र की समस्याओं के समाधान के लिये करें।** भौतिक विज्ञान, गणित, भाषाओं, सामाजिक विज्ञानों आदि का देश व राष्ट्र एवं मानव के विकास एवं उसकी समस्याओं के समाधान के सन्दर्भ में अध्ययन कराया जाना चाहिए, केवल स्वयं में इन विषयों के ज्ञान का कोई अर्थ नहीं है।

यह बात समझना भी आवश्यक है कि ज्ञान का उद्देश्य सत्य की खोज है। एक ओर ज्ञान के प्रकाश से जीवन के विविध पक्ष विकसित होते हैं तथा दूसरी ओर ज्ञान का अनुराग जीवन की साधना बन जाता है। सत्य के प्रति अनुराग से ही ज्ञान–विज्ञान का विकास हुआ है। अतः आवश्यकता है बालक में ज्ञान के प्रति अनुराग जाग्रत करने की, जिससे वह सत्य की खोज को अपने जीवन का लक्ष्य बना सके। विभिन्न विषयों की जानकारी ज्ञान नहीं है, यह तो ज्ञान प्राप्त करने की सामग्री है। ज्ञान तो चेतना का प्रकाश है, जिसे जाग्रत करना ही शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है।

2. मानसिक शक्तियों का विकास

मानसिक विकास में एवं ज्ञानेन्द्रियों की संवेदनाओं को व्यवस्थित रीति से ग्रहण करने में मन की चंचलता सबसे बड़ी बाधा पहुँचाती है। 'राजयोग में आत्मज्ञान के लिये चित्तवृत्तियों के निरोध को प्रथम आवश्यकता माना है। शिक्षा के लिये भी मन की एकाग्रता परमावश्यक है। एकाग्रता की शक्ति जितनी अधिक होगी, ज्ञान की प्राप्ति भी उतनी अधिक होगी। अरविन्द आश्रम की श्री माँ ने मन की शिक्षा का प्रथम उद्देश्य माना है – "एकाग्रता की शक्ति का, सजग होने की क्षमता का विकास करना।"[1] स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में – "मैं तो मन की एकाग्रता को ही शिक्षा का यथार्थ सार समझता हूँ, ज्ञातव्य विषयों के संग्रह को नहीं। यदि मुझे एक बार फिर से अपनी शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिले तो मैं विषयों का अध्ययन नहीं करुँगा। मैं तो एकाग्रता की ओर मन को विषयों से अलग करने की शक्ति को

---

1. श्री माताजी – 'शिक्षा', श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी, पृ. 40
2. स्वामी विवेकानन्द – 'शिक्षा', श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ. 14

बढ़ाऊँगा और तब साधन या यन्त्र की पूर्णता प्राप्त हो जाने पर इच्छानुसार विषयों का संग्रह करूँगा।[2] स्वामी विवेकानन्द ने एकाग्रता एवं प्रबल बौद्धिक विकास के लिये ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक साधन माना है। मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार जिस विषय को हम बालक को सिखाना चाहते हैं, उसमें उसकी रुचि उत्पन्न कर दें। सीखने का अनुराग तथा उन्नति करने की इच्छा जगा दें तो विषय पर उसका मन एकाग्र हो जाता है।

मन की एकाग्रता के साथ अवलोकन (निरीक्षण) की क्षमता का विकास शिक्षण का महत्वपूर्ण अंग है। यदि मनोयोगपूर्वक अवलोकन की क्षमता का प्रयोग किया जाय तो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त हो सकने वाली पूरी जानकारी मिल जाती है। सूक्ष्म अवलोकन के अभ्यास से अन्वेषण की वृत्ति विकसित होती है, जो विज्ञान की शिक्षा के लिये आवश्यक है। अवलोकन की क्षमता का विकास होने पर तुलना और वैषम्य का अवलोकन करने वाले मानसिक केन्द्रों का भी विकास होता है। यदि इस प्रकार के अभ्यास को बार–बार दोहराया जाय तो स्मरण–शक्ति का विकास भी होता है। विज्ञान के शिक्षण में अवलोकन, तुलना, स्मरण, मूल्यांकन आदि क्षमताओं का विकास करने की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। तथ्यों और शुष्क सूचनाओं की रटाई से बालक की इन क्षमताओं का विकास तो दूर रहा, शिक्षण में अरुचि उत्पन्न होकर उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है।

मानसिक शिक्षा में निर्णय–शक्ति का प्रशिक्षण अत्यन्त आवश्यक है। बालक को सही निर्णय करने के साथ–साथ अन्य व्यक्तियों के निर्णयों से अपने निर्णय की तुलना करके अपनी त्रुटियों को समझना भी सीखना चाहिए। मानसिक विकास में तार्किक शक्ति के प्रशिक्षण का महत्वपूर्ण स्थान है। यह प्रशिक्षण पुस्तकों से नहीं हो सकता। इसके लिये शिक्षार्थी को तथ्यों से अनुमान लगाना और परिणामों तथा कारणों में सम्बन्ध स्थापित करना सीखना चाहिए। उसे अपने तर्क की भूलों को समझना चाहिए, उन्हें स्वीकार करना चाहिए और इस प्रकार शुद्ध तर्क करने की क्षमता का विकास करना चाहिए।

मानसिक शिक्षा में काव्यकला और संगीत के प्रशिक्षण का भी महत्त्व है। काव्य संवेगों को ऊँचा उठाता है, कला संवेगों को सन्तुलित करती है, संगीत संवेगों को गहराई प्रदान करता है। श्री अरविन्द ने बुद्धि की क्षमताओं को दो भागों में बाँटा है– दाहिने हाथ की क्षमताएँ और बायें हाथ की क्षमताएँ। दाहिने हाथ की क्षमताएँ व्यापक, सर्जनात्मक, समन्वयात्मक होती हैं। निर्णय, मूल्यांकन, कल्पना, स्मृति अवलोकन दायें हाथ की क्षमतायें हैं। बायें हाथ की क्षमताएँ आलोचनात्मक–विश्लेषणात्मक होती हैं। समालोचनात्मक क्षमताएँ भेद करती हैं, तुलना करती हैं, श्रेणीबद्ध करती हैं, व्यापक बनाती हैं, परिणाम निकालती हैं, अनुमान करती और निष्कर्ष निकालती

हैं। ये तर्कबुद्धि के घटक हैं। ये क्षमताएँ विज्ञान, गणित, न्यायशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के अध्ययन से विकसित होती हैं। भाषा, साहित्य, कला, संगीत, दर्शन, धर्म, इतिहास के अध्ययन से मनुष्य का उसके कार्यों के आधार पर अध्ययन करना और समझना, प्रकृति और मनुष्य को व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक क्षमताओं द्वारा समझना—ये दायें हाथ के बौद्धिक क्रियाकलाप हैं।

अतः आवश्यकता यह है कि बालक में इन शक्तियों का विकास करने के लिये विविध प्रकार की सामग्री चतुरतापूर्वक उपस्थित करें तथा साथ—ही—साथ बालक में उस शक्ति को जाग्रत करें, जिसकी सहायता से वह ज्ञान प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक बालक में असीम शक्ति है, केवल उसको अभिव्यक्त करने का अवसर प्रदान करने की आवश्यकता है।

श्री माँ ने मन की शिक्षा के निम्नलिखित पाँच प्रधान अंग माने हैं—

(1) एकाग्रता की शक्ति का, सजग होने की क्षमता का विकास करना।
(2) मन को व्यापक, विशाल, बहुविध और समृद्ध बनाने की क्षमताएँ विकसित करना।
(3) जो केन्द्रीय विचार या उच्चतर आदर्श या परमोज्ज्वल भावना जीवन में पथ—प्रदर्शक का काम करेगी उसे केन्द्र बनाकर समस्त विचारों को सुसंगठित—व्यवस्थित करना।
(4) विचारों को संयमित करना, अनिष्ट विचारों का त्याग करना, जिससे मनुष्य अन्त में जो कुछ चाहे वही और जब चाहे तभी विचार कर सके।
(5) मानसिक निश्चलता का, परिपूर्ण शान्ति का और सत्ता के उच्चतर क्षेत्रों से आने वाली अन्तःप्रेरणाओं को अधिकाधिक पूर्णता के साथ ग्रहण करने की क्षमता का विकास करना।

भाषा का विकास

बालक के मानसिक विकास में भाषा का विकास भी सम्मिलित है। भाषा के विकास से अभिव्यक्त करने की मानसिक क्षमता का विकास होता है। भाषा के विकास में यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि मानसिक क्षमताओं का उपयोग पहले वस्तुओं पर होना चाहिए और बाद में शब्दों और विचारों पर। पहले मन को शब्द का, उसके रूप, उसकी ध्वनि और उसके भाव का भली—भाँति अभ्यास कराना चाहिए। भाषा के विकास में महत्त्व की बात यह है कि ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से जो ज्ञान मन प्राप्त करता है उसे कर्मेन्द्रियों (वाक्—हाथ) के द्वारा शुद्ध रूप में अभिव्यक्त करना सीख सके। इस क्षमता का विकास विभिन्न प्रकार के अभ्यासों से होता है।

(4) नैतिक शिक्षा

प्रायः सभी विचारकों एवं शिक्षाशास्त्रियों ने नैतिक शिखा एवं चरित्र–निर्माण को शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य माना है। नैतिकता एक सामाजिक भावना है। चरित्र से तात्पर्य आचरण या व्यवहार से है। नैतिकता 'नीति' शब्द से बनी भाववाचक संज्ञा है। नीयते इति नीतिः अर्थात् जो आगे ले जाये, वह नीति है। मनुष्य को आगे या अभ्युदय की ओर ले जोन वाले उसके गुण होते हैं व नैतिक स्वभाव होता है। आज बौद्धिक रूप से विकसित मनुष्य वैज्ञानिक ज्ञान में बहुत प्रगति कर चुका है, किन्तु यदि मनुष्य हृदय और भावना में अविकसित हो तो वह एक निम्न प्रकार का असुर बन जाता है। **नैतिक शिक्षा हृदय की शिक्षा है। अतः परिपूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए नैतिक शिक्षा अपरिहार्य है।**

भारतीय चिन्तन में नैतिकता और धर्म समानार्थी हैं। प्राचीन भारतीय शिक्षा में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। स्वतंत्रता–प्राप्ति से पूर्व तक देश में 'धर्म शिक्षा' शब्द ही अधिक प्रचलित था। परन्तु भारतीय संविधान की धर्मनिरपेक्षता की नीति का अर्थ ठीक प्रकार से ग्रहण न करने के कारण तथा धर्म शब्द सम्प्रदाय, पन्थ, मजहब (रिलीजन) के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होने के कारण 'नैतिक शिक्षा' शब्द–प्रयोग शिक्षा–जगत, में प्रचलित हो गया। भारतीय संस्कृति में धर्म नैतिक मूल्यों एवं सामाजिक जीवन को व्यवस्था प्रदान करने वाले सार्वभौमिक नियमों की ही संज्ञा है। 'धार्यते इति धर्मः' – जो धारण किया जाये वही धर्म है। 'धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः' जो सब प्रजाओं (समाज) की धारणा करे, वह धर्म है। अर्थात् व्यक्ति जिन गुणों को धारण करता है और जिनसे समाज की धारणा होती है, उन्हें धर्म कहा है। इस सम्बन्ध में लिखा गया है–

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, ज्ञान, विवेक, सत्य, अक्रोध ये दस धर्म के लक्षण हैं।

नैतिकता वास्तव में धर्म का भावात्मक तत्व है। इस प्रकार धर्म और नैतिकता अविच्छिन्न हैं, दोनों में अटूट सम्बन्ध है। धर्म और नैतिकता एक ही सिक्के के दो पार्श्व हैं, धर्म क्रियात्मक और नैतिकता भावात्मक पक्ष है। एक विद्वान के अनुसार– "बिना धर्म के नैतिकता की बात करना उसी प्रकार है जैसे बिना जड़ों के वृक्ष।"

कुछ लोग धर्म के नाम से चौंक पड़ते हैं। उनका कथन है कि धर्म–निरपेक्ष भारत में धर्म की शिक्षा विद्यालयों में नहीं दी जा सकती। परन्तु वे नैतिक शिक्षा का

समर्थन करते हैं। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट समझना आवश्यक है कि नैतिकता मनुष्य का चरम लक्ष्य नहीं है, वह तो लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग है। उपयोगितावाद मनुष्य के नैतिक सम्बन्धों की व्याख्या नहीं कर सकता। उपयोगिता के आधार पर हम किसी भी नैतिक नियम पर नहीं पहुँच सकते। कोई भी नैतिक नियम तब तक नहीं टिक सकते जब तक वे अतीन्द्रिय ज्ञान पर आधारित न हों। उपयोगितावादी हमसे कहते हैं कि नैतिक नियमों का पालन करो, समाज का कल्याण करो। अन्ततः हम क्यों किसी का कल्याण करें? क्यों नैतिक बनें? भलाई करने की बात तो गौण है, प्रमुख बात है—एक आदर्श। नैतिकता स्वयं साध्य नहीं, वह तो साध्य को प्राप्त करने का साधन है। यदि उद्देश्य नहीं है तो हम क्यों नैतिक बनें? हम क्यों दूसरों की भलाई करें? क्यों हम लोगों को सतायें नहीं? यदि आनन्द ही मानव—जीवन का उद्देश्य है, तो क्यों न मैं दूसरों को कष्ट पहुँचाकर भी स्वयं सुखी बनूँ? इन प्रश्नों के उत्तर हमें धर्म तथा आध्यात्मिकता पर आधारित भारतीय जीवन—दर्शन ही देने में समर्थ है। अन्य सभी मतवाद इस सम्बन्ध में मौन हैं। अतः हमें छात्रों को धर्म एवं जीवन के उस चरम लक्ष्य को हृदयंगम कराना होगा, जो नैतिक बनने के लिए प्रेरित करता है। डा. राधाकृष्णन् ने भी इसी भाव को प्रकट करते हुए लिखा है— "बहुत से लोग ऐसे हैं जो समझते हैं कि धर्म का स्थान नैतिकता ले सकती है। हमें यह समझना होगा कि निष्ठा, साहस, अनुशासन, आत्मत्याग आदि महान गुणों का उपयोग अच्छे और बुरे दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जा सकता है। ये गुण अच्छे नागरिक की सफलता के लिए और दुष्ट व्यक्ति की सफलता के लिए आवश्यक होते हैं। मनुष्य को वास्तव में उसका 'उद्देश्य' गुणवान बनाता है, जिसके लिये वह जीवन जीता है। अच्छाई और बुराई हमारे जीवन की दिशा और ढंग के द्वारा निर्धारित होती है, जिससे हम अपना जीवन गठित करते हैं।"[1]

अतः भारतीय जीवन—मूल्यों व आदर्शों के आधार पर हमें अपने छात्रों को नैतिक शिक्षा देने की व्यवस्था करनी होगी। इन तत्त्वों की चर्चा हम 'भारतीय शिक्षा—दर्शन के मूलाधार' शीर्षक अध्याय में कर चुके हैं। भारतीय

---

1. "There are many who feel that morality can take place of religion. We have to understand that the great virtues of loyalty, courage, discipline and self sacrifice may be used for good or bad ends. These are essential for a successful citizen as well as for a successful villain. What makes man truly virtuous is the purpose for which he lives, his general outlook on life. Virtue and vice are determined by the direction in which we move, by the way in which we organise our life." Dr. Radha Krishnan, The Report of the University Education Commission 1948-49, page 299.

जीवन के इन आदर्शों के प्रति छात्रों में स्थायी भाव निर्मित करने की आवश्यकता है। स्थायी भाव ही आचरण को प्रभावित करते हैं। जब किसी वस्तु, व्यक्ति या विचार के प्रति बार–बार भाव उत्पन्न होते हैं तब स्थायी भावों का विकास होता है। इसी को मनोविज्ञान में भावात्मक आदतें कहा गया है। बालक स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है। केवल धर्म के सिद्धान्त पढ़ा देने से बालक धार्मिक और नैतिक नहीं बन सकते। इसका मुख्य कारण यह है कि हृदय मन नहीं है और यह आवश्यक नहीं है कि इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अन्तःकरण में विचारों को फैला दिया जाय और उनका अभ्यास करा दिया जाय तो आचरण पर उनका प्रभाव पड़ता है। किन्तु नैतिक शिक्षा की पाठ्य–पुस्तकों से यह बड़ा संकट है कि इनके द्वारा विचार यांत्रिक और कृत्रिम बन जाते हैं और जो कुछ यांत्रिक या कृत्रिम होता है, वह व्यावहारिक नहीं होता। अतः इस यांत्रिकता से बचना होगा।

श्री अरविन्द के अनुसार, "मनुष्य की नैतिक प्रकृति के साथ व्यवहार करते हुए तीन बातें अत्यधिक महत्वपूर्ण होती हैं–भाव, संस्कार अर्थात् बनी हुई आदतें और साहचर्य तथा स्वभाव। अपने–आपको नैतिक दृष्टि से प्रशिक्षित करने का एक ही तरीका (विधि) है–अपने आपको समुचित भावों, उदात्ततम सम्बन्धों, सर्वोत्तम मानसिक, भावनात्मक और भौतिक आदतों के लिए अभ्यस्त करना और अपनी तत्त्वगत प्रकृति के मौलिक आवेगों का समुचित क्रिया में अनुसरण।"[1]

नैतिक शिक्षा के उद्देश्य

सामान्यतः मानव का व्यवहार उसकी मूल प्रवृत्तियों – आहार, निद्रा आदि इन्द्रिय–सुख की इच्छाओं से संचालित होता है। किन्तु शिक्षा या संस्कारों के द्वारा निम्न प्रवृत्तियों का रूपान्तरण एवं नियमन करना होता है, अन्यथा मानव और पशु में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। मानव–मानव में संघर्ष पर विजय एवं मानव की अन्तः प्रकृति पर विजय नैतिक शिक्षा के द्विविध उद्देश्य बन जाते हैं। अन्तःप्रकृति पर विजय मानव के हृदय में उदात्त भावनाओं एवं जीवनादर्श के प्रतिष्ठापन से होती है तथा मानव–मानव के संघर्ष पर विजय समान उदात्त जीवनादर्शों एवं समान जीवन की प्रेरणाओं की स्थापना से संभव होती है। इसी के आधार पर मानव पशु में मानवता का उदय एवं सामंजस्यपूर्ण मानव–समाज का विकास होता है और यही नैतिक शिक्षा का उद्देश्य है। इस उद्देश्य का विवेचन हम निम्नलिखित बिन्दुओं में कर सकते हैं–

---

1. श्री अरविन्द–'शिक्षा के आयाम', पृ. 67

(1) धर्म एवं संस्कृति के प्रति श्रद्धा (2) राष्ट्र–प्रेम (3) सदाचार

1. धर्म एवं संस्कृति के प्रति श्रद्धा

भारतीय चिंतन में मनुष्य का धर्म है अपने हृदय में परमेश्वर की उपस्थिति की अनुभूति करना एवं प्रत्येक प्राणी में परमेश्वर का दर्शन करना। अन्तःकरण की निम्न प्रवृत्तियों के नियमन से एवं चित्त की शुद्धि से यह सम्भव होता है। नैतिक शिक्षा के अन्तर्गत मानव–मन का यह प्रशिक्षण मुख्य कार्य है। इस दृष्टि से विकसित करने के लिये बालक को क्रियात्मक अवसर एवं बौद्धिक प्रोत्साहन मिलना चाहिए। उक्त धर्म का व्यावहारिक रूप ही संस्कृति के रूप में विकसित हुआ है। भारतीय धर्म एवं संस्कृति का परिचय विभिन्न ढंग से एवं रुचिकर पद्धति से बालक को कराना चाहिए। भारतीय संस्कृति के आदर्शों, प्रतीकों एवं परम्पराओं के प्रति सम्मान एवं श्रद्धा के स्थायी भावों का विकास बालक के मन में करना चाहिए। प्रार्थना, ध्यान, मौन आदि राजयोग के अभ्यासों को भी अपनाया जा सकता है। सांस्कृतिक समारोहों एवं धार्मिक पुरुषों की जयन्तियों के आयोजनों से भी छात्रों को अपनी संस्कृति एवं आदर्शों का ज्ञान प्राप्त होता है एवं मानसिक संस्कार होता है। सारांश यह है कि हमें छात्रों में बाल्यावस्था से ही अपने महान धर्म, उज्ज्वल संस्कृति एवं श्रेष्ठ परम्पराओं के प्रति ज्ञानयुक्त भक्तिभावना जाग्रत करनी चाहिए। इसके लिये विद्यालय का क्रियात्मक एवं संस्कारक्षम वातावरण अपेक्षित है। परिवारों में भी इसी प्रकार का वातावरण बालक को मिलना चाहिए। काव्य, कला एवं संगीत के संस्कार भी हृदय को उसकी गहराई तक छूने में प्रभावी माध्यम हैं।

भारतीय संस्कृति का ज्ञान इतिहास–शिक्षण के माध्यम से भली प्रकार हो सकता है। धर्म एवं आदर्शों के लिये अपने जीवन की आहुति देने वाले महापुरुषों, जैसे– दधीचि, शिवि, गोभक्त कूकाओं, बन्दा बैरागी, गुरुपुत्रों, वीर हकीकत आदि के जीवन–चरित्र सुनाने चाहिएं या पढ़ने के लिए प्रेरित करना चाहिए। 'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव' तथा 'मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्, आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्चति स पण्डितः' आदि सुभाषितों के पठन–पाठन के माध्यम से छात्रों को भारतीय संस्कृति एवं जीवनादर्शों से परिचित कराना, उनसे भावनात्मक सम्बन्ध जोड़ना एवं कृति में परिणत करने के लिये प्रत्यक्ष उदाहरण के द्वारा प्रेरित करना चाहिए। इस प्रकार अपने धर्म एवं संस्कृति के आदर्श बालक के जीवन में प्रस्थापित होंगे और उसे नैतिक बनने की प्रेरणा प्रदान करेंगे।

2. राष्ट्र–प्रेम

भारतीय चिन्तन में समाज या राष्ट्र को उस अव्यक्त ब्रह्म का विशाल एवं विराट

व्यक्त रूप माना गया है, अतः अपने जीवन को इस राष्ट्ररूपी परमेश्वर की सेवा में पूर्णरूपेण समर्पित करना ही जीवन का चरम लक्ष्य कहा है। इसी में मानव–जीवन का सच्चा विकास निहित है। वास्तव में मनुष्य अपने अल्पत्व को नष्ट कर जितनी विशालता का अनुभव करेगा, उतना ही उसे सुख मिलेगा। यही भाव 'योग वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' इस श्रुति–वाक्य में प्रकट हुआ है। मनुष्य का अल्पत्व इसी कारण है कि वह अपने को एक देहधारी मात्र समझता है। अपने शरीर को ही सर्वस्व समझकर उसके सुख के निमित्त बाह्य साधन, परिवार, शरीर–भरण–पोषण इत्यादि में मग्न रहकर 'मैं' ओर 'मेरा' की भावना की चारों ओर सीमाएँ बना लेता है। अतः नैतिक जीवन के विकास के लिये एवं ध्येय की प्राप्ति के लिये इन क्षुद्र सीमाओं को तोड़ना आवश्यक है। पूर्ण निःस्वार्थ–परता ही चरम लक्ष्य है। वही नैतिकता की नींव है। इसीलिए नैतिकता की यही एकमात्र व्याख्या की गयी है कि "जो स्वार्थपरक है वह नीतिविरुद्ध है और जो निःस्वार्थपरक है वह नीतिसंगत है।"

राष्ट्र–प्रेम निःस्वार्थता का भावात्मक पर्याय है। 'स्व' के विकास की विशालतम व्यावहारिक परिधि राष्ट्र तक मानी गयी है जो सामान्य जन की पहुँच के भीतर है। विश्व या चराचर जगत की विशालतम परिधियाँ भी हैं, परन्तु वहाँ तक विरले जन ही विकास कर पाते हैं। **भारतीय राष्ट्र–प्रेम इस उच्चतम विकास में सहायक है, बाधक नहीं, क्योंकि आध्यात्मिक भारतीय राष्ट्रवाद का लक्ष्य ही 'वसुधैव–कुटुम्बकम्' है।**

समाज की उन्नति एवं राष्ट्र का उत्थान इस बात में निहित है कि जनमानस निःस्वार्थ भावना एवं राष्ट्र–प्रेम से ओतप्रोत हो। कुछ लोगों में राष्ट्र की या विश्व–प्रेम की भावना जाग्रत होने से राष्ट्र का या मानव जाति का कल्याण नहीं होगा। अतः हमें शिक्षा के मायध्म से प्रत्येक छात्र में स्वार्थभाव का रूपान्तरण राष्ट्र–प्रेम में करना है। मनोविज्ञान के अनुसार यह रूपान्तरण, स्थूल से सूक्ष्म की ओर क्रमिक होता है। 'स्व' केन्द्रित भावना का परिवार–भावना में, तत्पश्चात् ग्राम, नगर, समाज, देश एवं राष्ट्र और फिर विश्व तक भावना का विस्तार करना होता है। इसके लिये विद्यालय, परिवार एवं समाज, सभी का वातावरण इस भावना के विकास हेतु संस्कार देने वाला चाहिए।

विद्यालय में नैतिक शिक्षा के माध्यम से राष्ट्र–प्रेम की भावना का जागरण करना है। यह शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य है। सभी शिक्षा आयोगों ने एवं शिक्षा शास्त्रियों ने देश–प्रेम की भावना का विकास आवश्यक माना है। राष्ट्र–प्रेम का पहला पाठ है – 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' – राष्ट्र–भूमि को अपनी माता और स्वयं को उसका पुत्र समझें। पुत्र होने के नाते वह मातृभूमि के लिये अपना तन, मन, धन, सब कुछ अर्पित करने को तैयार रहे। राष्ट्र–प्रेम का दूसरा पाठ है राष्ट्रजन के प्रति

बन्धुता का भाव। राष्ट्र–भूमि के पुत्र होने के कारण सभी जन बन्धुता के कोमल तन्तु से बँधे हैं। समाज के सुख–दुःख के साथ समरस होना एवं राष्ट्र में किसी भी कोने पर समाज–बान्धवों पर विपत्ति आती है तो यह विपत्ति मेरे ऊपर आयी है, यह अनुभूति प्रत्येक राष्ट्रजन में होना राष्ट्र–प्रेम का परिचायक है इस सह–अनुभूति का विकास छात्रों में नैतिक शिक्षा के द्वारा करना है।

भारत की वर्तमान परिस्थिति में, जबकि देश में क्षुद्र राजनीति, क्षेत्रीयता, भाषावाद, साम्प्रदायिकता आदि संकीर्ण विचार सक्रिय हैं, राष्ट्रीय चेतना, देशभक्ति एवं एकात्मता की भावना का जागरण शिक्षा के माध्यम से होना समय की आवश्यकता है।

आज भारत में आधी जनसंख्या निर्धनता की रेखा से नीचे अपना जीवन व्यतीत करती है। वनवासी, गिरिवासी, जो दरिद्रता एवं अज्ञानता के गर्त में डूबे हुए हैं, इन करोड़ों भारतवासियों के दुःखों को अनुभव कराना, उनके प्रति छात्रों के हृदय में प्रेम जाग्रत करना। प्रेम असम्भव को भी सम्भव कर देता है। उनकी दुर्दशा का निवारण करने के लिये कोई कर्त्तव्य पथ निश्चित करें एवं दृढ़ लगन के साथ उसको पूरा करें, यह संकल्प एवं कर्त्तव्य–बुद्धि छात्रों में बाल्यावस्था से उत्पन्न करने की आवश्यकता है और यही व्यावहारिक राष्ट्र–प्रेम है। स्वामी विवेकानन्द ने युवक छात्रों को सम्बोधित करते हुए कहा है– "ऐ मेरे भावी सुधारको, मेरे भावी देशभक्तो, तुम हृदयवान बनो। क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि देवों और ऋषियों की करोड़ों सन्तानें आज पशुतुल्य हो गयी हैं? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों लोग आज भूखों मर रहे हैं... और अज्ञान के काले बादलों ने भारत को ढ़क लिया है? क्या तुम यह सब सोचकर द्रवित हो जाते हो?... क्या राष्ट्रदेव की दुर्दशा की चिन्ता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है?"[1] इस प्रकार छात्रों में हृदय की शिक्षा की आवश्यकता है।

श्री अरविन्द ने भी शिक्षा में राष्ट्रीय भावना के जागरण को आवश्यक बताया है। उसे शिक्षा के साथ समन्वित करने पर बल देते हुए कहा है– "हमारी राष्ट्रीय शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति के लिये अन्तरात्मा और उसकी शक्तियों तथा सम्भावनाओं के विकास को ही केन्द्रीय उद्देश्य के रूप में रखे और राष्ट्र के लिये राष्ट्रीय आत्मा और राष्ट्र–धर्म की सुरक्षा, बल और समृद्धि को प्रथम स्थान दे।"[2]

मातृभूमि के प्रति भक्तिभाव, समाज के साथ एकात्मता की भावना, आसेतु हिमालय यह मेरा विशाल परिवार एवं घर है, भारत की सभी भाषाएँ मेरी भाषाएँ हैं, जाति, सम्प्रदाय, पंथ, वेशभूषा, खान–पान,

1. स्वामी विवेकानन्द – 'शिक्षा', पृष्ठ 41
2. श्री अरविन्द – 'शिक्षा के आयाम', पृष्ठ 25

रीति–रिवाज आदि विभिन्नताओं के मध्य भारत एक राष्ट्र है, हमारी धमनियों में एक ही पूर्वजों का रक्त प्रवाहित हो रहा है, राष्ट्र का अपमान मेरा अपमान है, राष्ट्र का सम्मान मेरा सम्मान है, राष्ट्र के ऊपर आया किसी प्रकार का संकट मेरे ऊपर संकट है, इस प्रकार की राष्ट्रीय भावात्मक एकात्मता का विकास करना नैतिक शिक्षा का परम उद्देश्य है।

3. सदाचार एवं सद्गुणों का विकास

अपने धर्म एवं संस्कृति के प्रति ज्ञानयुक्त श्रद्धा और राष्ट्रभक्ति से प्रेरित व्यक्तियों में नैतिक आचरण की भूमि तैयार होती है। इस प्रकार राष्ट्रीय जीवनादर्श छात्रों को नैतिक बनने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। हमें सदाचार एवं सद्गुणों का विकास छात्रों में मनोविज्ञान के आधार पर नैतिक शिक्षा के माध्यम से करना है। सदाचार या सच्चरित्रता के अन्तर्गत शील और नैतिकता की वे भावनाएँ निहित हैं जिनमें मनुष्य अपना सुख छोड़कर दूसरों को सुख दे, अपना स्वार्थ छोड़कर परोपकार करे और मन, वचन या कर्म से किसी को कष्ट न दे, सत्य बोलना, बड़ों का आदर करना, पारस्परिक प्रेम और सम्मान की भावना का विकास, त्याग, दया, न्याय, सहानुभूति, चोरी न करना, धोखा न देना, साहस, निर्भयता आदि सद्गुणों का विकास विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से किया जा सकता है।

यह बात महत्वपूर्ण है कि सदाचार संस्कृति एवं समाज की नैतिक धारणा के अनुसार मान्य होते हैं। उदाहरण के लिये–भारतीय समाज में पर–स्त्री को स्पर्श करना भी नैतिक दोष माना जाता है। किन्तु यूरोप में पर–स्त्री के साथ नृत्य करना शिष्टाचार का अंग माना जाता है। अतः चरित्र की शिक्षा के अन्तर्गत समाज के नैतिक नियमों का पालन करना चरित्र–शिक्षा का विशेष अंग होना चाहिए। यह बात आज के सन्दर्भ में अधिक महत्वपूर्ण है। पश्चिमी सभ्यता एवं शिष्टाचार का अन्धानुकरण हमारे समाज में तीव्र गति से हो रहा है। कामुक भावों का प्रदर्शन, विवाह आदि सामाजिक कार्यक्रमों में पाश्चात्य ढंग से नृत्य करना, यह हमारे देश में बढ़ रहा है। भारतीय समाज में इन प्रवृत्तियों को नैतिक दृष्टि से पतन ही माना जायेगा। पश्चिमी सभ्यता में संयुक्त परिवार की प्रथा नहीं है। माता–पिता की वृद्धावस्था में सेवा करना भारत में धर्म एवं नैतिकता का अनिवार्य अंग है, जबकि यूरोप और अमेरिका आदि देशों में माता–पिता वृद्धाश्रमों में जीवन बिताते हैं। उनकी संतानें केवल उनके जन्मदिन पर उन्हें पुष्पगुच्छ (गुलदस्ता) भेंट करने जाती हैं। **भारतीय संस्कृति में माता–पिता की सेवा नैतिक कर्त्तव्य माना जाता है।** गांधी जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है – "श्रवण कुमार की पितृभक्ति और हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा–इन दो पौराणिक कथाओं ने मुझे बहुत प्रभावित किया।

माता–पिता और शिक्षक की सेवा करने का महत्व सहस्र पृष्ठों के ग्रन्थ का अध्ययन करने से भी महान् है। मेरी बुद्धि और हृदय के विकास, मेरे चरित्र के निर्माण तथा संवर्धन और अविरत प्रगति का रहस्य यही है कि मैंने बचपन में पिताजी की सेवा की।" अतः सदाचार की शिक्षा में माता–पिता और आचार्य की सेवा को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करना है। माता–पिता एवं आचार्य व्यक्ति नहीं हैं, ये पद एवं संस्थाएँ हैं जिन्हें हमें निरपेक्ष भाव से सम्मान प्रदान करना चाहिए।

यह सत्य है कि सदाचार का बीज जीवन की प्रारंभिक अवस्था में पड़ता है और परिवार में उसका अंकुरण होता है। बालक के परिवार और समाज के संस्कार ही आगे चलकर उसकी शिक्षा के सम्बल बनते हैं। अतः माता–पिता को बालक के चारित्रिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने की आवश्यकता है। सत्य बोलना, चोरी न करना, बड़ों का आदर करना, पारस्परिक प्रेम और सहयोग की भावना, अतिथियों के प्रति सम्मान एवं शिष्टाचार आदि की शिक्षा घर पर ही दी जानी चाहिए। माता–पिता द्वारा अपना उदाहरण प्रस्तुत करके परिवार में सदाचार एवं नैतिक आचरण का वातावरण निर्मित करके यह किया जा सकता है।

विद्यालय में 'सरल से कठिन एवं स्थूल से सूक्ष्म की ओर' इस मनोविज्ञान के शिक्षण–सिद्धांत के अनुसार स्वच्छता, व्यवस्थाप्रियता, समयशीलता, अनुशासनपालन, शिष्टाचार, परस्पर सहयोग एवं उत्तरदायित्व की भावना आदि स्थूल एवं सरल गुणों का विकास सहपाठ्य क्रियाकलापों के माध्यम से प्रारम्भ किया जाना चाहिए। विद्यालय में शिक्षक के व्यक्तित्व का प्रभाव छात्र के चरित्र–निर्माण में सबसे प्रभावी होता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि नैतिक शिक्षा या चरित्र का निर्माण उपदेशों से नहीं होता। नैतिक शिक्षण का प्रथम नियम है सुझाव देना। सुझाव देने का सबसे उत्तम ढ़ंग है व्यक्तिगत उदाहरण, अनौपचारिक वार्ता तथा महान्पुरुषों के जीवन के दृष्टान्त, उनके श्रेष्ठ विचार एवं उच्चतम भावों को जाग्रत करने वाले साहित्य के अंश एवं इतिहास के प्रसंग छात्रों के सम्मुख रोचक एवं सरस शैली में प्रस्तुत किये जायें। **यदि स्वयं शिक्षक का जीवन उन आदर्शों में ढला हो जिन्हें वह छात्रों के सामने रख रहा है तो यह अत्यधिक प्रभावशाली पद्धति होती है।**

अन्त में यह बात समझना आवश्यक है कि नैतिक शिक्षा अथवा धर्म–शिक्षा का शिक्षण अन्य विषयों के समान एक विषय के रूप में करना उपयोगी एवं प्रभावकारी नहीं होता। सभी शिक्षकों को सभी विषयों के शिक्षण के साथ नैतिकता–विषयक बातों को छात्रों के सामने प्रस्तुत करना चाहिए। नैतिक शिक्षा के लिये विद्यालय का संस्कारक्षम वातावरण बहुत सहायक होता है।

(5) आध्यात्मिक शिक्षा

भारतीय मनोविज्ञान की मान्यता के अनुसार मानव की मूल प्रकृति आध्यात्मिक है। इस आध्यात्मिक प्रकृति के कारण ही मनुष्य ने विज्ञान, साहित्य, संस्कृति, कला, सदाचार एवं धर्म के रूप में अपने को अभिव्यक्त किया है। अध्यात्म का सम्बन्ध आत्मा से है आत्मा को जीवन और जगत का परम तत्व माना गया है। वही जगत का कारण है। उस चराचर जगत में व्याप्त परमात्म तत्व को ही मनुष्य का अन्तरात्मा माना गया है। "आत्मा को अधिकृत करके जो रहता है, उसे अध्यात्म कहते हैं। स्वयं गीताकार ने, परब्रह्म का प्रति देह में अन्तरात्मा रूप से स्वभाव रूप में जो स्थापित होना है, उस स्वभाव को ही अध्यात्म कहा है।"[1] आत्मा मनुष्य की सत्ता का अन्तरतम मर्म है। उसे इन्द्रियों, मन, अहंकार और बुद्धि से परे माना है। यह अहंकारातीत आत्मा ही विद्या का प्रकाश और उसकी प्रेरणा है। मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ आत्मा की शक्ति से ही प्रेरित होती हैं। आत्मा की चेतना से ही वे विषयों के अधिगम में समर्थ होती हैं। इन्द्रियों के धर्मों, मन के विकारों और अहंकार के अवच्छेदों के अतिक्रमण के द्वारा हमें इस आत्मा के स्वरूप का कुछ आभास हो सकता है। अहंकार के पूर्ण विगलित होने पर ही आध्यात्मिक भाव की जागृति होती है। अधिकांश व्यक्तियों में यह आत्मा की शक्ति अज्ञात और अपरिचित रूप में पर्दे के पीछे से कार्य करती है। बहुत ही विरले लोगों में इसकी उपस्थिति प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होती है। ऐसे ही लोग जीवन में एक विशेष विश्वास और शक्ति के साथ आगे बढ़ते हैं। इस अन्तरात्मा की उपस्थिति के प्रति सचेतन होने के लिए ही आध्यात्मिक शिक्षा की आवश्यकता है।

आध्यात्मिक शिक्षा के उद्देश्य

अपने भीतर आत्मा की उपस्थिति के प्रति सचेतन होने के लिये सर्वप्रथम आवश्यकता है देह और मन से जो तादात्म्य हमारे अहं ने स्थापित कर रखा है, उसे त्यागने का। हम यह अनुभव करें कि मैं यह 'देह' या 'मन' नहीं हूँ। मैं 'आत्मा' हूँ, जो अजर–अमर, अविनाशी सत्ता है। देह के नाश के साथ मेरा नाश नहीं होता। यह आत्मा ही ईश्वर तत्व है जो सर्व चराचर जगत् में व्याप्त है। अपने भीतर इस ईश्वर तत्व की अनुभूति करना तथा समस्त प्राणियों में इसके दर्शन करना, यही वास्तव में आध्यात्मिक शिक्षा की आधारशिला है। **आज भौतिकवादी सुखों ने मानव–मस्तिष्क को अपनी ओर पूर्ण रूप से आकृष्ट कर रखा है। फलस्वरूप,**

---

1. स्वामी महेशानन्द गिरि–'गीता प्रवेश', पृ. 138, आगरा यूनिवर्सिटी प्रेस, आगरा

मानव आध्यात्मिक जीवन तथा उससे जुड़ी असीम सम्भावनाओं को पूरी तरह भुला बैठा है। वह भौतिक संसार में ही जीता तथा उपभोग करता है। अपनी सत्ता को शरीर और मन से अधिक नहीं मानता। यह एक ऐसी भ्रान्ति है जिसके रहते जीवन के उच्चस्तरीय आयामों में प्रवेश करते नहीं बनता। इस भ्रान्ति या अज्ञान से मुक्ति दिलाना ही शिक्षा का परम लक्ष्य है। 'सा विद्या या विमुक्तये'—विद्या वही है जो मुक्ति दिलाये। ईश्वर सत्, चित्त् और आनन्द—स्वरूप हैं। इसके ज्ञान से ही चिरन्तन आनन्द की प्राप्ति संभव है। भारतीय चिन्तन के अनुसार जीवन का लक्ष्य भी यही है।

अध्यात्म जीवन का सत्य है। यह जीवन का दृष्टिकोण है। अध्यात्म जीवन जीना है। हमारा स्वभाव आध्यात्मिक बने, हमारे समस्त व्यवहार में आध्यात्मिकता प्रकट हो, यह सतत साधना का विषय है। शिक्षा भी एक साधना है। छात्रों के जीवन को अध्यात्म के संस्कारों से संस्कारित करना आध्यात्मिक शिक्षा का उद्देश्य है। आध्यात्मिक शिक्षा के अन्तर्गत छात्रों में हम निम्नांकित गुणों के विकास का इसके उद्देश्य के रूप में विचार कर सकते हैं :—

1. ईश्वर के प्रति आस्था एवं भक्ति

बालक को प्रारंभिक अवस्था से ईश्वर के अस्तित्व के प्रति सचेतन करने की आवश्यकता है। यह कार्य परिवार में भली—भांति हो सकता है। ईश्वर के जिस रूप में भी आस्था हो, उसके प्रति घर में प्रार्थना, पूजा आदि सभी परिवारजन करते हैं तो बालकों पर उसका अनुकूल प्रभाव होता है। विद्यालय में भी अच्छे प्रभावी वातावरण में प्रार्थना—सभा से शिक्षा—कार्य आरम्भ हो। भक्त बालकों एवं महापुरुषों के जीवन के दृष्टान्त भी ईश्वर के प्रति आस्था एवं भक्तिभाव जगाने में सहायक होते हैं। मौन, ध्यान, भजन—संगीत आदि के कार्यक्रमों से बालक अन्तर्मुखी होता है, शान्ति और आनन्द की अनुभूति करता है। इनसे ईश्वर के प्रति सचेतन होने का वातावरण बनता है।

2.'मैं देह नहीं, आत्मा हूँ'

मानव देह नहीं, आत्मा है, ईश्वर का स्वरूप है। यह भाव बार—बार छात्रों के सम्मुख भिन्न—भिन्न ढंग से आना लाभदायक है। इसका अर्थ भी रुचिकर ढंग से उदाहरण देकर समझाना चाहिए। अपने को देह मानने वाले केवल अपनी देह और इन्द्रियों को सुख देना ही अपने जीवन का लक्ष्य मानते हैं। देह की सुख—सुविधाओं की साधन—सामग्री जुटाने में ही उनके जीवन की समग्र शक्ति व्यय होती है और फिर भी उन्हें शान्ति या संतोष जीवन में कभी नहीं मिलता। अपने को आत्मा मनाने

वाला व्यक्ति देह को भोग का साधन न समझकर परमात्मा की भक्ति एवं दूसरों की सेवा में अपने जीवन का उपयोग करता है। इससे उसे जीवन में शान्ति, संतोष और आनन्द की प्राप्ति होती है।

3. जीवन–लक्ष्य के प्रति सजगता

ईश्वर का साक्षात्कार करना ही मानव–जीवन का लक्ष्य है। अपने हृदय में उसकी अनुभूति करना तथा दूसरों में भी ईश्वर के दर्शन हों, यही वास्तव में अध्यात्म भाव है। इस भाव–जागरण के लिये साधना करनी होती है। धर्माचरण एवं नैतिक जीवन के द्वारा चित्त की शुद्धि होने पर ही इस भाव–जागरण की सम्भावना होती है। इसका सतत प्रयास करना ही साधना है। यह साधना इस जीवन में और आगे के जीवन में भी लक्ष्य की प्राप्ति तक करनी होती है। जीवन की इस साधना के प्रति सजगता छात्रों में निर्मित करने का प्रयास करना है।

4. निर्भयता

यह आध्यात्मिक गुण है। छात्रों में इसका विकास करना आध्यात्मिक शिक्षा का अंग है। हमारे आध्यात्मिक साहित्य उपनिषदों में 'अभीः' (निर्भयता) शब्द का प्रयोग बारम्बार आता है। कौन व्यक्ति निर्भय हो सकता है? जिसका अन्तःकरण निर्मल है, जो दिन–रात परोपकार और सेवा में निरत है, अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठ चुका है, बलिदानी है, दूसरों का भय दूर करने में संलग्न है, क्षमाशील है और जो पवित्र एवं निःस्वार्थ भाव से अन्याय और अत्याचार का प्रतिरोध करता है। एक विद्वान ने कहा है कि मनुष्य को सत्ता भ्रष्ट नहीं करती, बल्कि उसके छूटने का भय भ्रष्ट करता है। आध्यात्मिक पुरुष को तो साक्षात् मृत्यु का भय भी नहीं होता। अरण्यवासी, शिलाखण्ड पर बैठे उस महान योगी की इतिहास–प्रसिद्ध घटना है। महाप्रतापशाली सम्राट सिकन्दर उनके ज्ञान पर मुग्ध होकर उन्हें यूनान चलने के लिए अर्थ और मान–प्रतिष्ठा का प्रलोभन देता है और संन्यासी उसकी प्रलोभन की बात सुनकर हँसी के साथ यूनान जाना अस्वीकार कर देता है। तब सिकन्दर अपनी राजसत्ता के मद में तलवार निकालकर ललकारता है, "यदि तुम नहीं चलोगे तो मैं तुम्हें जान से मार डालूँगा।" वह योगी खिलखिलाकर हँस पड़ते हैं और कहते हैं, "मैंने आज तक ऐसी झूठी बात कभी नहीं सुनी। मुझे भला कौन मार सकता है? मैं तो अजर–अमर और अविनाशी आत्मा हूँ।" सिकन्दर उनके चरणों पर गिरकर क्षमा माँगता है। यह है आध्यात्मिक बल और निर्भयता। परमात्मा की सत्ता के प्रति पूर्ण विश्वास होना, मनुष्य को पूर्ण अभय बना देता है।

5. स्वतन्त्रता

मनुष्य को स्वतन्त्र और स्वाधीन होना प्रिय है। यह आत्मा का स्वभाव है। आध्यात्मिक पुरुष जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अधिकतम स्वतन्त्र रहना चाहता है, क्योंकि गहरे स्तर पर उसका अपना आत्मा स्वतन्त्र एवं स्वाधीन है। आध्यात्मिक व्यक्ति अपनी इच्छाओं का अथवा मन का दास नहीं, वरन् स्वामी होता है। संन्यासियों में अपने नाम के साथ स्वामी शब्द इसी भाव से जोड़ा जाता है। स्वतन्त्रता आध्यात्मिकता का मूल मन्त्र है। इच्छाओं और मन की दासता मनुष्य के समस्त दुःखों का कारण है। अध्यात्म स्वाधीन होने का पथ है। आनन्द का मूल स्रोत स्वतन्त्रता में है। छात्रों के विकास में स्वतन्त्रता सहायक होती है।

6. प्रसन्नता

आत्मा आनन्दस्वरूप है। आध्यात्मिक जीवन आनन्दरूप बन जाता है। वह भीतर के आनन्द को प्रकट करता है। गांधीजी के बारे में कहते हैं कि वे बहुत लावण्यशाली पुरुष नहीं थे, परन्तु जब हँसते या मुस्कुराते थे तो सारे व्यक्तित्व पर लावण्य की आभा छा जाती थी कि देखने वाला मुग्ध हो जाता था। जो भीतर की आत्मसत्ता के भाव में उद्‌बोधित आनन्द में रत रहने वाला व्यक्ति है उसके जीवन में लावण्य छलकता है। आनन्द आध्यात्मिकता का ऐश्वर्य है। इस आनन्द में लावण्य है। **अध्यात्म में एक ऐसा अक्षय, अक्षुण्ण आनन्द का स्रोत उपलब्ध हो जाता है कि सुख में और दुःख में भी समान रूप से उसके मुखमण्डल पर प्रसन्नता झलकती रहती है।** प्रसन्नता आत्मा का गुण है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।। (गीता 2–65)

प्रसाद (प्रसन्न रहना) गुण धारण करने पर समस्त मानसिक क्लेश की निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि जिसका मन प्रसन्न रहता है उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

7. विनयशीलता

विनयशीलता अध्यात्म का अलंकार है, विद्यावान या ज्ञानी पुरुष का स्वभाव है। 'विद्या ददाति विनयं'–विद्या विनय देती है। विनयशीलता अहंकारशून्यता का पर्याय है। अध्यात्मभाव अहंकार के विगलित होने पर ही प्रकट होता है। **जो पुरुष जितना अधिक आध्यात्मिकता में डूबा होगा, वह उतना ही अधिक विनयशील होगा।** सन्त प्रभुदत्त ब्रह्मचारी और श्री गुरुजी गोलवलकर, दोनों के मिलने का दृश्य आज भी सजीव है। गुरुजी ब्रह्मचारीजी के आश्रम में जैसे ही प्रवेश करते हैं, उनके स्वागत में खड़े ब्रह्मचारीजी श्री गुरुजी के चरण–स्पर्श करने झुकते हैं और उसी क्षण गुरुजी भी ब्रह्मचारीजी के चरण–स्पर्श करने का प्रयास करते हैं। दो महान्

पुरुषों में एक–दूसरे के चरण–स्पर्श करने में होड़ लगी है। विनयशीलता का यह साक्षात् चित्र आज भी अविस्मरणीय है। अहंकारशून्यता के बिना यह विनयशीलता सम्भव नहीं है जो आध्यात्मिक पुरुषों में प्रकट होती है। अध्यात्म–शिक्षा के द्वारा छात्रों में यह विनयशीलता का गुण विकसित होने का प्रयास अपेक्षित है।

8. प्रेम

प्रेम आत्मा का स्वभाव है। प्रेम समस्त सीमाएँ समाप्त कर प्राणिमात्र के साथ तादात्म्य स्थापित कर देता है। प्रेम की अनुभूति बौद्धिक धरातल से ऊपर उठकर होती है। प्रेम राग, मोह और वासना से परे है। राग, मोह और वासना में संकीर्णता है, स्वार्थपरता है। प्रेम व्यापक एवं निःस्वार्थ होता है। प्रेम से अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। हृदय के निर्मल होने पर ही प्रेमतत्व का ग्रहण सम्भव है। प्रेम का अर्थ है अपनी शक्ति, ज्ञान, धन आदि का परहित में सेवा–भाव से दान। प्रेमपूर्ण स्वभाव सबके लिये सुखद एवं कल्याणकारक होकर समाज में सुख–शान्ति की प्रस्थापना करता है। प्रेम में उत्सर्ग ही उत्सर्ग है। स्वदेश–प्रेम में अपने प्राणों का भी उत्सर्ग सहज भाव से होता है। समाज के प्रति प्रेम सेवा का रूप धारण कर लेता है। प्रेम अहिंसा का पर्याय है। अहिंसा के मूर्तिमन्त रूप महावीर स्वामी प्रेम के साक्षात् अवतार थे। उनके समीप गौ और व्याघ्र परस्पर मैत्री भाव से मुक्त होकर विचरण करते थे। प्रेम आध्यात्मिक विकास का प्रतिफल है। कर्म, मन, वाणी से सब प्राणियों से ऐसा व्यवहार करना कि उन्हें हमसे क्लेश न प्राप्त होकर सुख की प्राप्ति हो, इस भाव का नाम प्रेम है। इसी को अहिंसा कहा जाता है। प्रेम शब्द अहिंसा का ही भावात्मक प्रयोग है।

9. करुणा

आध्यात्मिक साधना में करुणा का भाव हृदय में फूट पड़ता है। दया एवं सहानुभूति में अहंकार का पुट होता है। करुणा की अनुभूति अहंकारशून्यता में ही सम्भव है। आध्यात्मिक व्यक्ति दूसरों के दुःख सहन नहीं कर सकता। देशवासियों की दरिद्रता को देखकर स्वामी विवेकानन्द के हृदय की करुणा अश्रु बनकर फूट पड़ती थी। भारत के करोड़ों जन आज भूखे, नंगे रहकर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। देशवासियों के हृदय में अपने इन आत्मीय जनों के प्रति जब करुणा का भाव जाग्रत होगा, तब वर्तमान स्थिति से इन्हें उबारने के संकल्प का उदय होगा। स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि "मैं उसी को महात्मा कहूँगा जिसका हृदय गरीबों के लिए रोता है।" आध्यात्मिक साधना से सिद्धि–प्राप्ति करने पर भी योगी एवं संन्यासी जन करुणा के भाव के कारण ही लोकसंग्रह के कार्य में संलग्न होते हैं। हृदय में करुणा के भाव का जागरण आध्यात्मिक विकास का स्वाभाविक परिणाम है।

आध्यात्मिक शिक्षा के आयाम

मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षण बताये हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक विकास के लक्षणों के रूप में यहाँ कुछ गुणों की चर्चा की गयी है। वास्तव में अध्यात्म का शिक्षण नहीं होता। यह तो सहज प्रस्फुटित होता है। धर्माचरण, नैतिक भावना एवं उपयुक्त वातावरण में आध्यात्मिक विकास की सम्भावना निहित है। नैतिक शिक्षा आध्यात्मिक विकास का साधन है। अध्यात्म मानव का मूल स्वभाव है। जिस प्रकार मल के आवरण से ढके दर्पण में दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार मन के विकारों एवं चित्तवृत्तियों की चंचलता के कारण मनुष्य का मूल आध्यात्मिक स्वभाव परिच्छिन्न रहता है। धर्माचरण एवं चित्तवृत्तिनिरोध से मन के विकार दूर होते हैं और आध्यात्मिकता का अनावरण होता है। आध्यात्मिक शिक्षा की प्रक्रिया भी यही है।

आध्यात्मिक शिक्षा के लिये आध्यात्मिक गुणों से युक्त शिक्षक का जीवन आवश्यक है। आध्यात्मिक पुरुषों की संगति का बालक के अन्तःकरण पर गहरा संस्कार होता है, जो उसके आध्यात्मिक विकास का सम्बल बनता है। एक बात और महत्वपूर्ण है कि शिक्षा के सन्दर्भ में अध्यात्म की साधना का समस्त भार केवल छात्रों और शिक्षकों पर ही नहीं लादा जा सकता। शिक्षा की व्यवस्था और साधना सामाजिक परिवेश में ही होती है। अतः श्रेष्ठ शिक्षा के अनुकूल परिवेश के निर्माण के लिए समाज की व्यवस्था में स्वार्थ और अहंकार का समुचित समाधान करना होगा। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति के द्वार स्वार्थ और अहंकार के अतिक्रमण से ही खुलते हैं। आध्यात्मिक शिक्षा का यह सामाजिक पक्ष ध्यान देने योग्य है। अध्यात्म व्यक्ति की एकान्त–साधना नहीं है। आत्मा अहंकार के समान इकाई नहीं है। वह पारस्परिक अद्वैत का भाव है। अनुकूल सामाजिक वातावरण की प्रेरणा अध्यात्म की सफलता के लिये अपेक्षित है।

आध्यात्मिक शिक्षा से ही बालक के जीवन का विकास पूर्ण होता है। श्री अरविन्द ने भी इसी सर्वांग जीवन के विकास को शिक्षा का लक्ष्य माना है। उन्हीं के शब्दों में, "सर्वांग जीवन का अर्थ है ऐसा जीवन, जिसमें तन, मन और प्राण का भी समुचित सन्तोष और विकास हो। यह आध्यात्मिक जीवन से ही सम्भव है, क्योंकि आत्मा ही निम्न तत्वों का समन्वय कर सकता है। मानसिक स्तर का जीवन एक द्वन्द्वात्मक जीवन है। यह द्वन्द्व ही आधुनिक व्यक्ति और समाज की समस्त समस्याओं का मूल कारण है। इसका एकमात्र सुलझाव मानसिक स्तर का अतिक्रमण करना है। मानव जाति के आध्यात्मिक स्तर पर आरोहण करने से ही विश्व की सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ सुलझ सकती हैं। अन्य सभी प्रयत्न केवल थोड़ा–बहुत ही निदान कर सकते हैं।"

इस प्रकार शारीरिक, व्यावसायिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक पंचमुखी शिक्षा के द्वारा बालक का सर्वांगीण विकास होता है, जो कि शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है।

7

पाठ्यक्रम–निर्धारण के सिद्धान्त

पाठ्यक्रम शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति का माध्यम

किसी भी देश में उसके संविधान का जो स्थान होता है, शिक्षा–जगत् में वही स्थान पाठ्यक्रम का है। पाठ्यक्रम उसके आत्मा का प्रतिनिधित्व करता है। पाठ्यक्रम को अंग्रेजी भाषा में 'करीकुलम' कहते हैं। करीकुलम लातिन भाषा के 'कुर्रेर' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है 'दौड़ का मैदान'। उसका लाक्षणिक अर्थ हो गया 'शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थी की प्रगति का क्षेत्र।' पाठ्यक्रम के माध्यम से ही छात्र के द्वारा शिक्षा के लक्ष्य प्राप्त किये जाते हैं। पाठ्यक्रम उन सभी क्रियाओं और अनुभवों का योग है जो ज्ञानार्जन एवं छात्रों के सर्वांगीण विकास के निमित्त विद्यालय के निर्देश में नियोजित किये जाते हैं।

शिक्षा के उद्देश्य के प्रकरण में हम विस्तार से विचार कर चुके हैं कि शिक्षा का उद्देश्य बालक का शारीरिक, व्यावसायिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक अर्थात् उसके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है। पाठ्यक्रम शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन है। अतः पाठ्यक्रम का निर्धारण इस ढंग से होना चाहिए जिससे उक्त उद्देश्यों की पूर्ति छात्र के द्वारा की जा सके। इसके लिये पाठ्यक्रम निर्धारण में निम्नलिखित विषयों का विचार अपेक्षित है :–

(क) छात्र अपने अनुभव, ज्ञान एवं विचारों को शुद्ध, कलात्मक, मधुर तथा प्रभावोत्पादक भाषा में मौखिक अथवा लिखित रूप से अभिव्यक्त कर सकें तथा दूसरों की कही या लिखी हुई बात को समझने की क्षमता प्रदान करें, क्योंकि भाषा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहार एवं ज्ञानार्जन का आधार है।

(ख) समाज में शील, सद्भावना, सदाचार एवं आत्मीयता पूर्ण व्यवहार करने के योग्य बनें, क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह समुदाय में रहकर और व्यवहार करके ही मनुष्य बनता है। इसलिये छात्रों को अपने देश और समाज की नीति, रीति एवं संस्कृति का परिचय हो तथा इतिहास और भूगोल का ज्ञान हो, सामाजिक प्रवृत्तियों में कार्य करने का व्यावहारिक ज्ञान हो जिसका अनुभव सामाजिक सम्पर्क से उन्हें प्राप्त हो। सामाजिक चेतना, देशप्रेम एवं राष्ट्रीय एकता की भावना के विकास

के लिए शैक्षिक गतिविधियों का आयोजन हो। **विद्यालय पाठ्यक्रम का केन्द्र–बिन्दु चरित्र–निर्माण होना चाहिए।** शैक्षिक क्रियाकलापों का आयोजन इस प्रकार से हो कि छात्रों में नैतिक गुणों का संवर्द्धन सहज रूप से हो सके।

(ग) सम्मानपूर्ण तथा प्रामाणिकता से व्यवसाय द्वारा जीविका अर्जित करने में समर्थ हों, इसलिये छात्रों को उनकी प्रवृत्ति के अनुसार गणित, अन्य शास्त्र, शिल्प तथा विज्ञानों का अध्ययन करने की सुविधा मिले। इस सुविधा के लिये यह आवश्यक है कि उनके लिये अनेक विषयों, विधाओं, और कलाओं का व्यापक क्षेत्र खुला रहे जिससे वे अपनी प्रकृति के अनुकूल विषय का चयन कर सकें।

(घ) स्वस्थ होकर दूसरों के श्रद्धाभाजन बनें और अपने देश की सुरक्षा तथा दुर्बलों की सहायता एवं रक्षा करने में समर्थ हों। इसलिये उनके शारीरिक संस्कार की व्यवस्था हो। उन्हें खेल, व्यायाम, सैन्य–शिक्षा, योगासन, प्राणायाम आदि के द्वारा शारीरिक विकास करने की सुविधा हो। स्वास्थ्य–विज्ञान की जानकारी सभी स्तरों पर करायी जानी चाहिए।

(ड) अपना मानसिक तथा कलात्मक संस्कार करके सौन्दर्य–भावना पल्लवित कर सकें। इसलिये उन्हें चित्रकला, संगीत, मूर्तिकला आदि की शिक्षा प्राप्त करने के अवसर हों।

(च) सात्विक जीवन एवं धर्मनिष्ठता के माध्यम से आध्यात्मिक विकास करते हुए अपने जीवन–लक्ष्य – परमात्म तत्त्व की प्राप्ति की ओर प्रगति कर सकें। इसके लिये पवित्रता से युक्त, भक्ति–भावनापूर्ण आध्यात्मिक वातावरण की व्यवस्था हो तथा भारतीय संस्कृति, धर्म एवं जीवन–दर्शन के ज्ञान हेतु गीता आदि ग्रन्थों एवं महापुरुषों क जीवन–चरित्र शिक्षा के पाठ्यक्रम सम्मिलित हों।

(छ) **चराचर प्राकृतिक जगत के ज्ञान के लिये विज्ञानों के अध्ययन एवं अनुसन्धान की सुविधा हो** तथा विश्व के विभिन्न देशों में बसे मानव–समाज के जीवन एवं परस्पर सम्बन्धों का ज्ञान तथा विश्व–बन्धुत्व की भावना के विकास हेतु विश्व–इतिहास तथा विभिन्न देशों के साहित्य के अध्ययन की सुविधा छात्रों को प्रदान की जाय।

पाठ्यक्रम में योग आधार–विषय हो

बालक इन्द्रियों, मन, बुद्धि, चित्त आदि के माध्यम से समस्त ज्ञान एवं अनुभव अर्जित करता है। इसीलिये इन्हें अन्तःकरण कहा गया है। यह अन्तःकरण ज्ञान का साधन एवं उपकरण है। यह साधन–यन्त्र अपनी पूर्ण क्षमता के साथ एवं बिना बाधा के सही ढ़ंग से कार्य कर सके, इसके लिये योग का अभ्यास आवश्यक है। अतः योग विषय पाठ्यक्रम का आधारभूत अंग होना चाहिए। 'शिक्षा के भारतीय

मनोवैज्ञानिक आधार' प्रकरण में इस विषय पर विस्तार से विचार हुआ है। इस विचार का निष्कर्ष यह है कि सत्यान्वेषण एवं यथार्थ ज्ञानार्जन के लिये ब्रह्मचर्य–पालन, अनासक्त भाव एवं एकाग्रता परमावश्यक है। मनोविज्ञान का यह नियम सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक है। अतः पाठ्यक्रम में योग आधार विषय के रूप में होना चाहिए तथा शैक्षिक पर्यावरण इस प्रकार का निर्मित किया जाये जिससे छात्रों को ब्रह्मचर्य–पालन एवं योगाभ्यास की प्रेरणा प्राप्त हो।

पाठ्यक्रम छात्रों की पात्रता एवं रुचि के अनुरूप हो

सभी शिक्षाशास्त्रियों का यह समवेत विचार है कि शिक्षा बालक के लिये है, बालक शिक्षा के लिये नहीं। पाठ्यक्रम भी बालक के लिये है, बालक पाठ्यक्रम के लिये नहीं है। तात्पर्य यह है कि पाठ्यक्रम–निर्माण करते समय बालक की अवस्था, उसकी शारीरिक समर्थता, बौद्धिक योग्यता, मानसिक वृत्ति, सामाजिक वातावरण तथा घर की परिस्थिति आदि सब बातों का ध्यान रखकर ऐसा पाठ्यक्रम बनाना चाहिए जिससे बालक केवल कुछ विषयों की जानकारी और कुछ ज्ञानक्षेत्रों का परिचय मात्र न प्राप्त करके अपना सर्वांगीण विकास करने के अवसर प्राप्त करे और यह विकास बलपूर्वक न होकर प्रेरणा से हो, अध्यापक अथवा ऊपर के किसी अधिकारी के दबाव से नहीं।

आजकल शिक्षा–क्षेत्र में इतनी भयंकर अराजकता व्याप्त है कि छोटे बालकों के मस्तिष्क पर असामान्य भार लादकर उन्हें अनेक ऐसे विषय पढ़ने के लिये बाध्य किया जा रहा है जो न उनकी रुचि के अनुकूल हैं और न जिनमें उनकी प्रवृत्ति ही है। दुर्बल शरीर, कोमल मति और सुकुमार मन के बालकों पर पाठ्यक्रम का भार लाद दिया गया है। पाठ्यक्रम बालक के मानसिक स्तर, पात्रता एवं रुचि के अनुसार क्रमवर्धित होना चाहिए।

पाठ्यक्रम–निर्माण में निम्नांकित नियमों का ध्यान रखना आवश्यक है–

(क) सक्रमता – बालक के मानसिक स्तर के अनुसार विषय धीरे–धीरे क्रम से बढ़ाना और पढ़ाना। इसे सक्रमता का नियम कहते हैं।

(ख) पर्याप्तता – जो विषय एक बार एक अवधि में पढ़ाया जाय वह इतना पर्याप्त हो कि उस निर्धारित अवधि में भली–भाँति पढ़ाया जा सके, अर्थात् वह न कम हो न अधिक।

(ग) सम्बद्धता – प्रत्येक विषय का अगला चरण उसके पिछले अंश के साथ उपयुक्त ढंग से सम्बद्ध होना चाहिए, उसमें एक प्रकार की क्रमिक और नियमित वृद्धि होनी चाहिए अर्थात् किसी भी विषय का आगे का ज्ञान पिछले ज्ञान से इस प्रकार

सम्बद्ध हो कि बालक को आगे का ज्ञान प्राप्त करने में कठिनाई न हो और उसका बौद्धिक ज्ञान भी विकसित होता चले।

(घ) निरन्तरता – जो ज्ञान एक बार प्रारम्भ किया जाय उसकी धारा निर्बाध रूप से शिक्षा–जीवन के अन्त तक बहती चलनी चाहिए। उसमें किसी प्रकार का व्यक्तिगत या सामूहिक व्यवधान नहीं आना चाहिए। यह ज्ञानधारा इस प्रकार व्यवस्थित की जानी चाहिए कि बालक क्रम से, धीरे–धीरे, निर्बाध रूप से आदि से अन्त तक उस विषय का अध्ययन निरन्तर करता चले।

पाठ्यक्रम समाज एवं राष्ट्र की आवश्यकताओं का पूरक

आज अपने देश में आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा के स्वरूप को परिवर्तित करके उसे जन–जीवन की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से सम्बद्ध किया जाय और उसे सामाजिक उन्नति का एक साधन बनाया जाय। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये पाठ्यक्रम राष्ट्रीय एकता, सामाजिक न्याय, उत्पादन, समाज में व्याप्त घोर निर्धनता के निराकरण तथा भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिक मूल्यों की पुनःस्थापना में योगदान करने वाला होना चाहिए।

अपने राष्ट्र में व्यावसायिक एवं यान्त्रिक प्रगति के लिये विज्ञान एवं शिल्प के शिक्षण की आवश्यकता है। इसलिये सामान्य शिक्षा के पाठ्यक्रम में तो विज्ञान और शिल्प विषय अनिवार्य हों ही, किन्तु ऐसे विभिन्न प्रकार के औद्योगिक एवं व्यावसायिक पाठ्यक्रम की भी आवश्यकता है जिनसे भारतीय जनशक्ति एवं अपार स्थानीय खनिज सम्पदा एवं अन्य उपलब्ध साधन–सामग्री का उपयोग हो सके। **आज पाठ्यक्रम के निर्माण में केवल नगरों एवं बड़े कस्बों के लोगों का ही ध्यान रखा जाता है। भारत की 80 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या को ध्यान में रखकर कृषि एवं सम्बन्धित ग्रामीण उद्योगों पर आधारित पाठ्यक्रम का निर्माण करने की तीव्र आवश्यकता है।** जीवनोपयोगी पाठ्यक्रम के माध्यम से ही शिक्षा का प्रसार देश में होगा, केवल साक्षरता के प्रसार के अभियान से शिक्षा–प्रसार सम्भव नहीं है। महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित 'बेसिक शिक्षा' के मूल में यही भावना थी, किन्तु उसको शासन एवं शिक्षा अधिकारियों द्वारा ठीक प्रकार से नहीं समझा गया।

पाठ्यक्रम में उत्पादक कार्यानुभव

व्यावसायिक शिक्षा के अन्तर्गत उत्पादक कार्य का सामान्य शिक्षा के पाठ्यक्रम में आवश्यक विषय के रूप में समावेश करना चाहिए। इसे विज्ञान और प्रौद्योगिकी

(तकनॉलॉजी) के उपयोग तथा कृषि और उद्योग में उत्पादन से सम्बद्ध किया जाना चाहिए। वर्तमान शिक्षा के द्वारा हमारे देश में 'सफेदपोश' लोगों का निर्माण हो रहा है। शिक्षित व्यक्ति का अर्थ 'जिसे हाथ से कार्य न करना पड़े,' यह धारणा प्रचलित हो गयी है। इस धारणा को समाप्त करने की आवश्यकता है। उत्पादक कार्य विषय को पाठ्यक्रम में रखने से हाथ के काम करने का अभ्यास, श्रम के प्रति निष्ठा, उत्पादन–कार्य में निहित भौतिक वस्तुओं और मानव–सम्बन्धों को समझने की आन्तरिक दृष्टि आदि गुणों का छात्रों में विकास होगा।

अन्तरराष्ट्रीय शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन 'लर्निंग टु बि' के अनुसार शिक्षा जीवन और कर्म से कटी और अलग–थलग है। कर्म और शिक्षा के मध्य यह अन्तर अप्राकृतिक है। इसे समाप्त किया जाना चाहिए। अतः पाठ्यक्रम को जीवनोपयोगी बनाने एवं कर्म से जोड़ने की आवश्यकता है, तभी विद्यालयी शिक्षा के अवसर सबके लिये समान हो सकेंगे तथा उच्चवर्गीय शिक्षा व जनशिक्षा के बीच की खाई को पाटा जा सकेगा।

शिक्षा का माध्यम मातृभाषा

सभी शिक्षाशस्त्रियों का यह समवेत मत है कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए। मातृभाषा का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति के लिए इतना अपेक्षित है कि वह शुद्ध और प्रभावशाली भाषा में अपने विचार मौखिक एवं लिखित रूप से व्यक्त कर सके और दूसरों की कही हुई और लिखी हुई बात समझ सके। मातृभाषा पर यह अधिकार शिक्षा का माध्यम होने से ही सम्भव है। दुर्भाग्यवश आज अपने देश में मातृभाषा की उपेक्षा हो रही है। अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। पुस्तकों के अभाव की आड़ में उच्च शिक्षा में भी मातृभाषा उपयुक्त स्थान प्राप्त नहीं कर पा रही है। परिणामतः विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षित छात्र–छात्राएँ मानसिक एवं भावात्मक दृष्टि से देश की संस्कृति एवं जीवन से जुड़ नहीं पाते।

अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों को अंग्रेजी साहित्य, उपन्यासों, नाटक, कथा, कविता आदि का अध्ययन करना पड़ता है। मातृभाषा के साहित्य से वे वंचित रह जाते हैं। परिणामतः वे पाश्चात्य संस्कृति एवं समाज–जीवन के प्रत्ययों से प्रभावित रहते हैं और **अपने देश में ही विदेशी बन जाते हैं।**

गांधीजी ने इस सम्बन्ध में कहा है कि **"शिक्षण का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण शिक्षा प्राप्त करने वाले बालकों के बौद्धिक स्रोतों पर इतना अधिक दबाव पड़ता है कि उन्हें जो उच्च विचार विद्यालयों द्वारा प्राप्त**

होते हैं उनको वे पचा नहीं पाते। अच्छे–से–अच्छे विद्यार्थी को भी उन्हें तोते की भाँति रटना पड़ता है।" आगे उन्होंने कहा है, "समाज की सबसे बड़ी सेवा जो हम कर सकते हैं वह यह है कि हमने अंग्रेजी भाषा का जो अन्धविश्वासपूर्ण सम्मान करना सीखा है उससे स्वयं मुक्त हों और समाज को मुक्त करें।"[1]

मातृभाषा के शिक्षण का सम्बन्ध मात्र किसी भाषा के ज्ञान तक सीमित नहीं है। मातृभाषा संस्कार का माध्यम होती है। इसके अध्ययन एवं प्रयोग से उक्ति–चातुर्य, शिष्टाचार, वाणी का संस्कार, चरित्र–निर्माण, भावना का परिष्कार एवं राष्ट्रीय संस्कृति का ज्ञान होता है। इससे मनुष्य के उदात्त भावों का विकास होता है और उसके नैतिक बल का संचालन होता है। विश्वविद्यालय शिक्षा–आयोग एवं अन्य शिक्षा–आयोगों एवं समितियों ने भी इस बात की पुष्टि की है।[2]

त्रि–भाषा सूत्र

भारत एक विशाल देश है। विभिन्न भारतीय भाषाएँ इस देश में प्रचलित एवं विकसित हुई हैं। इन सभी भारतीय भाषाओं की जननी राष्ट्रभाषा संस्कृत है। इसी कारण सभी भारतीय भाषाओं के भाव एवं संस्कार देने वाले गुण समान हैं। **भारतीय भाषाएँ ही शिक्षा एवं राज्यकार्य के व्यवहार का माध्यम होनी चाहिएं।** परन्तु दुर्भाग्यवश अंग्रेजों का शासन इस देश पर रहने के कारण अंग्रेजी भाषा भारत की सरकारी सम्पर्क भाषा बनी और भारतीय भाषाओं को इस दृष्टि से विकास करने का अवसर नहीं मिल सका। स्वतंत्रता–प्राप्ति के पश्चात् हिन्दी को देश की सम्पर्क–भाषा के रूप में स्थान मिला एवं राज्यों में उनकी भाषाएँ व्यवहार का माध्यम बनीं। परन्तु अंग्रेजी का मोह अभी न छूटने के कारण हिन्दी सम्पर्क–भाषा के रूप में उपयुक्त स्थान नहीं ले सकी। अतः इसके लिये प्रथम हमें शैक्षिक क्षेत्र में पूर्ण मनोबल के साथ प्रयत्न करने की आवश्यकता है। केन्द्रीय सरकार ने त्रि–भाषा सूत्र का सिद्धान्त स्वीकार किया है, यह लागू होना चाहिए।

त्रि–भाषा सूत्र के अनुसार पाठ्यक्रम में निम्नांकित व्यवस्था हो–

---

1. गांधीजी – 'शिक्षण और संस्कृति', पृ. 182
2. "The study of the language and the literature of our mother tongue should occupy the first place in general education. Language incarnates the genius of the people which has fashioned it. Every word, every phrase conveys some idea of men and women... We get into the spirit of our people by acquiring control over the language."—University Education Commission Report, p. 40.

1. प्रथम मातृभाषा

मातृभाषा प्राथमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम हो। अतः मातृभाषा का शिक्षण इस ढंग से हो कि छात्र का उस पर अधिकार स्थापित हो सके।

2. द्वितीय भाषा हिन्दी

हिन्दी का द्वितीय भाषा के रूप में शिक्षण आरम्भ किया जाये। इससे हिन्दी देश में सम्पर्क–भाषा के रूप में स्थान प्राप्त कर सकेगी। जिन प्रदेशों में हिन्दी मातृभाषा है उनके लिये एक अन्य भारतीय भाषा का अध्ययन अनिवार्य हो।

3. तृतीय भाषा संस्कृत

तृतीय भाषा के रूप में छात्र संस्कृत का अध्ययन करें। संस्कृत हमारी संस्कृति की भाषा है। संस्कृत भारतीय जीवन के संस्कारों की भाषा तो है ही, किन्तु इससे बढ़कर बात यह है कि भारतीय जीवन में उच्च दैवी जीवन के जिन उदात्त आदर्शों की स्थापना के लिये भारतीय समाज सदैव सचेत रहा है उनकी अभिव्यक्ति संस्कृत साहित्य में ही हुई है। इसके साथ ही संस्कृत का अपना भाषागत और साहित्यिक महत्व भी है। हमारी सभी भारतीय भाषाओं ने संस्कृत की कोख से जन्म लिया है, उसकी विभूति से वे समृद्ध हुई हैं, इसके साहित्य ने हमारी भारतीय भाषाओं का पथ–प्रदर्शन किया है, शैली दी है, शब्द–शक्ति दी है, शब्द–भण्डार दिया है, विचार दिये हैं, कथा–वस्तुएँ प्रदान की हैं। **संस्कृत ग्रन्थों में ज्ञान–विज्ञान भरा पड़ा है। भौतिक विज्ञान, जीव विज्ञान, ज्योतिष, खगोल, औषधि, सैन्य विज्ञान–अर्थात् ज्ञान–विज्ञान की ऐसी कोई शाखा नहीं है जिसका भण्डार संस्कृत ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हो।** अंग्रेजों और जर्मनों ने संस्कृत ग्रन्थों को अपने देश में ले जाकर अध्ययन किया और विज्ञान के प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों को नवीन आविष्कार का रूप देकर अंग्रेजी एवं यूरोपीय भाषाओं में उनका प्रकाशन किया। अब भारतीय छात्र अपने देश की विद्याओं का अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करते हैं। अतः इस दृष्टि से भी प्रत्येक भारतीय छात्र को संस्कृत भाषा का ज्ञान आवश्यक है। समस्त विश्व जिस संस्कृत साहित्य से प्रभावित एवं लाभान्वित हुआ है, हमारे भारतीय छात्र उससे वंचित रहे, इससे अधिक मूर्खता की बात दूसरी नहीं हो सकती। छात्रों को संस्कृत का इतना ज्ञान अवश्य होना चाहिए जिससे उनके मन में संस्कृत ग्रन्थ पढ़ने की प्रेरणा मिले और साहित्य में अभिरुचि जाग्रत हो। गांधीजी ने संस्कृत भाषा के अध्ययन का समर्थन करते हुए कहा है, "संस्कृत शिक्षा के बिना मैं किसी हिन्दू की शिक्षा अधूरी समझता हूँ।"[1]

---

1. गांधीजी–'शिक्षण और संस्कृति', पृ. 281

अंग्रेजी एवं अन्य विदेशी भाषाएँ

अंग्रेजी भाषा एवं अन्य विदेशी भाषाओं के शिक्षण की व्यवस्था वैकल्पिक विषय के रूप में होनी चाहिए। जो छात्र विदेशी भाषा का अध्ययन करना चाहते हों, उन्हें पूर्ण सुविधा प्राप्त होनी चाहिए। **कुछ लोगों की आवश्यकता के कारण अंग्रेजी भाषा को देश के सभी छात्रों पर लादना घोर राष्ट्रीय आत्मघात है।** यह भी सत्य है कि जब तक मातृभाषा में वैज्ञानिक शास्त्र नहीं समझाये जाते, तब तक राष्ट्र को नया ज्ञान नहीं मिल सकता। यह तो स्वयंसिद्ध है कि–

1. सारी जनता को नये ज्ञान की आवश्यकता है।
2. सारी जनता कभी अंग्रेजी नहीं समझ सकती।
3. यदि अंग्रेजी पढ़ने वाला ही नया ज्ञान प्राप्त कर सकता है तो सारी जनता को नया ज्ञान कभी नहीं मिल सकेगा।

अतः भारतीय भाषाओं को सभी दृष्टियों से समृद्ध एवं शासन के व्यवहार एवं शिक्षा का माध्यम बनाया जाये, साथ ही यह आवश्यक है कि अंग्रेजी एवं अन्य विदेशी भाषाओं के अध्ययन की उत्तम से उत्तम सुविधा प्रदान करने हेतु अलग से विशेष पाठ्यक्रम संचालित करने चाहिए। रूसी आदि भाषाओं के अध्ययन की व्यवस्था आज भी की गयी है। जापान का उदाहरण हमारे सामने है। उसने संपूर्ण शिक्षा का माध्यम अपनी भाषा को बनाकर विश्व में सभी क्षेत्रों में उन्नति की है। जापान में अंग्रेजी एवं विदेश भाषाओं के अध्ययन की अलग से उत्तम व्यवस्था की गयी है। उस देश का अनुभव यह है कि **अंग्रेजी भाषा का जितना ज्ञान जापानी बालक प्राथमिक से स्कूल शिक्षा काल तक दस वर्षों में प्राप्त कर पाता था, वह विद्यालयी शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् केवल तीन माह पढ़कर प्राप्त कर लेता है। भारत में विदेशी भाषाओं के अध्ययन की व्यवस्था इसी प्रकार की जानी चाहिए।**

मानविकी, विज्ञान एवं गणित विषय

ज्ञान परिवार में मानविकी, गणित और विज्ञान, ये तीनों बहिनें हैं। सामान्य शिक्षा के पाठ्यक्रम में ज्ञान के ये तीनों अभिन्न अंग होने चाहिए। किन्तु उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में भी इनकी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि एक पर तो अच्छी प्रकार अधिकार प्राप्त किया जा सके और दूसरों का भी थोड़ा–बहुत अध्ययन चलता रहे। आजकल शिक्षा के क्षेत्र में विशिष्टीकरण (स्पेशिलाइजेशन) का इतना प्रचलन हो गया है कि उच्च शिक्षा में ज्ञानोपार्जन के संकीर्ण क्षेत्र में अपने–आपको सीमित कर लिया जाता है। यह मानवीय विकास के लिये घातक है। इसके परिणामस्वरूप

विज्ञान का विकास विश्व के समक्ष विनाश के भय के रूप में खड़ा है। विज्ञान की प्रगति ने मानव को आश्चर्य में डाल दिया है, साथ ही उसे इतना हृदयहीन बना दिया है कि मानव मानव से भयभीत है। श्री अरविन्द ने इस बात को इन शब्दों में कहा है– 'बौद्धिक रूप से विकसित मनुष्य, जो वैज्ञानिक ज्ञान में बहुत बडा हो, जो स्थूल और सूक्ष्म प्रकृति का स्वामी हो, जो पंच तत्वों का दास के रूप में, जगत का पादपीठ के रूप में उपयोग करता हो, वह मनुष्य यदि हृदय और भावना में अविकसित हो तो एक निम्न प्रकार का असुर बन जाता है जो अर्द्धदेव की शक्तियों का उपयोग पशु के स्वभाव को सन्तुष्ट करने के लिये करता है।[1] टेनिसन इसका वर्णन 'प्रकृति में भली–भांति अभ्यस्त आँख, किन्तु बन्धनग्रस्त दरिद्र आत्मा' के रूप में करता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि विशिष्टीकरण पद्धति में सुधार कर विज्ञान एवं गणित विषयों के क्षेत्र में भी मानविकी विषयों–दर्शन, धर्म, इतिहास एवं साहित्य का थोड़ा–बहुत समावेश करना चाहिए। पाठ्यक्रम में मानव की ज्ञान, भावना एवं क्रिया–तीन शक्तियों का समन्वित विकास हो, इस प्रकार का पाठ्यक्रम निर्धारित हो।

पाठ्यक्रम ज्ञान की प्रक्रिया का साधन

ज्ञानात्मक विकास के क्षेत्र में विषय–वस्तु पर अधिकार प्राप्त करना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि अधिकार प्राप्त करने की विधि। अतः सीखने और सिखाने की प्रक्रिया का ऐसा विधान होना चाहिए कि समस्याओं के हल ढूँढ़ने में बालक सक्रिय भाग ले सके। पाठ्यक्रम की मूल भावना यह होनी चाहिए कि छात्र ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया पर अधिकार करे, न कि केवल पाठ्यक्रम में निर्धारित विषयों के सीमित ज्ञान को पूरा करे। ज्ञानार्जन की प्रक्रिया (लर्निंग प्रोसेस) जानना सब प्रकार के अनुभवों के लिये आवश्यक हैं जो छात्र ज्ञानार्जन की प्रक्रिया पर अधिकार कर लेता है उसके हाथ में नयी समस्याओं का सामना करने की शक्ति आ जाती है। छात्रों में ज्ञान–प्राप्ति की भूख जाग्रत करना, ज्ञान के प्रति प्रेम उत्पन्न करना तथा ज्ञान की खोज करने की प्रवृत्ति का विकास करना, पाठ्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए, न कि छात्रों को कोई सीमित ज्ञान–राशि प्रदान करना। श्री अरविन्द के शब्दों में – "विद्यार्थी को ज्ञान देना आवश्यक है, किन्तु उससे भी अधिक आवश्यक है उसके अन्दर ज्ञान–शक्ति का निर्माण करना।"[2]

---

1. श्री अरविन्द–'शिक्षा के आयाम', पृष्ठ 29
2. श्री अरविन्द–'शिक्षा के आयाम', पृष्ठ 39

पाठ्यक्रम के स्वीकृत सिद्धान्तों में गतिशीलता एवं लचक हो

समाज और व्यक्ति–सापेक्ष पाठ्यक्रम निर्धारित करने के लिये उसमें लचक और गतिशीलता का होना अनिवार्य है, अन्यथा तीव्रता से विस्तारमान विज्ञान और प्रौद्योगिकी (तकनॉलॉजी) के ज्ञान और हमारे समाज की बदलती सामाजिक–आर्थिक स्थिति के समक्ष किसी भी पाठ्यक्रम का जीवन क्षणिक रह जाने की सम्भावना है। भारत एक विशाल देश है। यहाँ अनेक भाषाएँ, सामाजिक रीतियाँ, व्यवहार और असमान आर्थिक विकास है। अतः पाठ्यक्रम पर एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश के समाज और व्यक्तियों की माँगों के अलग–अलग दबाव होंगे। परन्तु समान स्तर एवं राष्ट्रीय एकात्मकता के लिये स्वीकृत सिद्धान्तों और मूल्यों की रूपरेखा के अन्तर्गत देश में एकसमान पाठ्यक्रम आवश्यक है। फिर भी पाठ्यक्रम को यन्त्रवत् नहीं बनाया जा सकता। व्यक्तियों और समुदाय की आवश्यकताओं के अनुरूप पाठ्यक्रम को ढ़ालने की छूट शिक्षाविदों एवं अध्यापकों को देना आवश्यक है। साथ ही पाठ्यक्रम को यदि जीवन्त और आधुनिक बनाये रखना है तो यह अनिवार्य है कि वह सदैव परिवर्तनशील और विकासमान रहे।

पाठ्यक्रम में विषयों की सह सम्बद्धता

अन्त में एक बात विचारणीय है कि जीवन के समान ज्ञान भी अखण्ड एवं अविभाज्य इकाई है। अतः यह आवश्यक है कि विषय–पाठ्यक्रम के छोटे–छोटे अंगों को छोड़कर तात्विक विषय–सामग्री की व्यापक एकात्मता पर विशेष ध्यान दिया जाये। यदि भली प्रकार यह सम्बद्धता (कोरिलेशन) को नियोजित किया जाय तो सभी विषयों की सुन्दर व्यापक एकता स्थापित की जा सकती है। इस प्रकार हम छात्रों के समन्वित ज्ञान का विकास कर सकेंगे।

प्रतिभावान छात्रों की शिक्षा

सामान्य शिक्षण के कार्यक्रम के लिये देश में मूलभूत पाठ्यक्रम आवश्यक है, पर हमें प्रतिभावान विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना होगा। प्रतिभावान छात्रों के लिये विशिष्ट पाठ्यक्रम की व्यवस्था कर उनकी प्रतिभा को विकास की सुविधा प्रदान करनी होगी। राष्ट्र की प्रगति के लिये भी यह व्यवस्था आवश्यक है। ऐसे प्रतिभाशाली छात्रों के लिये विद्यालयों की अलग इकाईयाँ स्थापित करनी होंगी जो किसी ज्ञान–विज्ञान के विशेष क्षेत्र में उच्च शिक्षण प्राप्त करना चाहते हैं।

प्रतिभावान छात्रों की शिक्षा–व्यवस्था में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सम्पन्न परिवारों के बालक ही इसका लाभ न उठा सकें। ग्रामीण, निर्धन एवं अनेक बार पिछड़े क्षेत्रों में भी प्रतिभाएँ छिपी पड़ी रह जाती हैं। इन सभी क्षेत्रों के प्रतिभाशाली बालकों की खोज करके उनके विकास की समुचित व्यवस्था हमें करनी चाहिए। परिवार की निर्धनता, क्षेत्र की दूरी अथवा दुर्गमता को इसमें बाधक नहीं बनने देना चाहिए।

अनौपचारिक शिक्षा

इसी प्रकार पिछड़े हुए एवं गैर औपचारिक क्षेत्रों से आने वाले छात्रों के लिये उपचार–इकाइयाँ अथवा सेतु–इकाइयाँ स्थापित करनी होंगी। साथ ही हमें भारत की बहुसंख्यक, शिक्षा से वंचित जनसंख्या के लिये अनौपचारिक शिक्षा के माध्यम से भारत की विशाल जनसंख्या के अन्तिम छोर तक पहुँचने के लिए अधिक साधन एवं समय चाहिए। अतः हमें अंशकालिक अथवा अनौपचारिक पाठ्यक्रम का संचालन कर इसे लागू करने हेतु भारी प्रयास करने होंगे, तभी शिक्षा का लाभ सभी देशवासियों को मिल सकेगा।

शिक्षा के साथ अर्थोपार्जन

हमारे देश में घोर दरिद्रता व्याप्त है। 56 प्रतिशत जनसंख्या ऐसी है जो गरीबी की रेखा से नीचे अमानवीय जीवन व्यतीत करती है और जिसे दो समय पेट भर भोजन भी प्राप्त नहीं होता। इन परिवारों के बच्चे धरती पर चलना सीखने के साथ ही जीविकोपार्जन के कामों में अपने माता–पिता की सहायता में जुट जाते हैं। इन अभागे बच्चों के पास आज शिक्षा के प्रकाश की एक किरण भी नहीं पहुँच पाती। देश की शिक्षा का विचार करते समय हमारा यह राष्ट्रीय कर्त्तव्य है कि इन बच्चों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था करें। इसके लिये ऐसे पाठ्यक्रम की आवश्यकता है जो शिक्षा के साथ अर्थोपार्जन में सहायक हो सके। विद्यालय में पढ़ने के बाद घर वापस जाते समय ये एक–दो रुपये अर्जित करके अपने साथ ले जा सकें, तभी ये बालक शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे। गांधी जी की बेसिक शिक्षा की कल्पना के पीछे इसी प्रकार की योजना थी। इस कल्पना को साकार करने की आवश्यकता है।

स्त्री–शिक्षा

हमें यह स्वीकार करना होगा कि विज्ञान और समाज चाहे जितने उन्नत हो जायें और सामाजिक दृष्टि से स्त्रियों और पुरुषों के व्यवहार–क्षेत्र तथा कार्य–क्षेत्र

में चाहे जितनी समानता आ जाय किन्तु पुरुषों और स्त्रियों की शिक्षा–सम्बन्धी आवश्यकताओं और उन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन में अवश्य अंतर रहेगा। यह अंतर कुछ तो उसकी नैसर्गिक प्रकृति की भिन्नता के कारण और कुछ उनकी शारीरिक शक्ति और कार्यभिन्नता के कारण आवश्यक है। सामाजिक समानता का अर्थ यह नहीं है कि पुरुष और स्त्री–दोनों की प्रकृति एक हो जाय। यह संभव नहीं है। इसका अर्थ यही है कि किसी प्रकार के सामाजिक अधिकार से स्त्रियाँ वंचित न हों। **इसलिये स्त्रियों की मूलभूत, मनोवैज्ञानिक और भावात्मक विशेषताओं, उनकी सौन्दर्यात्मक वृत्ति, मातृत्वभावना, गृहिणी के रूप में उनके उत्तरदायित्व आदि का ध्यान रखते हुए उनकी शक्तियों के विकास के अनुकूल उनकी सामान्य शिक्षा के पाठ्यक्रम की व्यवस्था की जाय।** साथ ही उच्च शिक्षा एवं ज्ञान के सभी क्षेत्रों में उन्हें प्रगति करने की पूर्ण सुविधा प्रदान करनी होगी। इस दृष्टि से उनकी सामान्य शिक्षा का पाठ्यक्रम इस प्रकार चाहिए–

सांस्कृतिक विषय – भाषा (मातृभाषा का पूर्ण ज्ञान, संस्कृत का व्यावहारिक ज्ञान), चित्रकला, नृत्य, संगीत, सांस्कृतिक एवं धार्मिक साहित्य, आदर्श नारियों के जीवन–चरित्र, योगाभ्यास, सांस्कृतिक पर्व मनाना इत्यादि।

सामाजिक विषय – इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं बाल मनोविज्ञान।

व्यावहारिक – सामान्य विज्ञान, गणित, स्वास्थ्य–विज्ञान, गृह–विज्ञान, शारीरिक व्यायाम, खेल, योगासन, सद्व्यवहार, अतिथि–सत्कार, शिशुपालन, घरेलू चिकित्सा आदि।

हस्तकौशल – गृह–सज्जा, सिलाई, कढ़ाई–बुनाई, रंगाई, बागवानी आदि।

स्त्री शिक्षा के पाठ्यक्रम के लिये स्वामी विवेकानन्द ने इतिहास और पुराण, गृह–विज्ञान, कला तथा धर्म की शिक्षा पर बल दिया है। इन सबके साथ–साथ पुरुषों के समान स्त्रियों को भी शारीरिक शिक्षा दी जानी चाहिए, ताकि वे स्वयं अपनी रक्षा कर सकें और निर्भय होकर घूम–फिर सकें। युवकों के समान युवतियों में भी साहस और शौर्य उत्पन्न करने की आवश्यकता है। ऐसी माताएँ ही साहसी बालकों को जन्म दे सकती हैं। उन्हीं की गोद में पलकर देश का निर्माण करने वाले सपूत पैदा हो सकते हैं।

शिशु–वाटिका (पूर्व प्राथमिक शिक्षा)

प्राचीन भारत में तीन से छः वर्ष की आयु के शिशुओं के लिये घर एक उत्तम शिक्षा–केन्द्र होता था। परिवार के बच्चों की माँ और दादी घर के आँगन में खेल आदि क्रिया–कलापों एवं कहानी आदि के माध्यम से उनके विकास में रुचि लेती

थीं। किन्तु आधुनिक काल में आर्थिक एवं सामाजिक परिवेश में परिवर्तन होने के कारण परिवारों में शिशुओं के शिक्षण का वातावरण प्रायः समाप्त होता जा रहा है। अब शिशु–शिक्षा–केन्द्रों के रूप में विभिन्न प्रकार के विद्यालय चलने लगे हैं। इन विद्यालयों को शिशु–वाटिका (नर्सरी या किण्डरगार्टन) कहते हैं। यूरोप और अमेरिका आदि पश्चिमी देशों में शिशुगृहों (होम नर्सरी) की संख्या अत्यधिक है। ये शिशुगृह सामाजिक कल्याण की संस्था के रूप में चलते हैं जिनका काम जीविका के लिये दिन में काम करने वाली माताओं के छोटे–छोटे बच्चों की दिन–भर देखभाल करना है। भारत में भी पश्चिम के अनुकरण के रूप में इस प्रकार के शिशु गृह महानगरों में चलते हैं, परन्तु माता के स्नेह के अभाव में शिशुगृहों में पोषित बच्चों का सन्तुलित एवं समुचित विकास नहीं हो पाता।

शिशु–वाटिका (नर्सरी स्कूल) विद्यालय इन शिशुगृहों से अलग हैं। इनमें 3 से 6 वर्ष तक की आयु के बच्चों के संरक्षण एवं शिक्षा की व्यवस्था होती है। पश्चिमी देशों में किंडर गार्टन के जन्मदाता फ्रोबेल ने बालकों की रचना–शक्ति एवं सक्रियता का उपयोग करते हुए खेल–खेल में आनन्द के साथ विकसित होने की पद्धति का समर्थन किया है। मोण्टेसरी ने स्वयंशिक्षा, निर्देशित स्वतन्त्रता, आवयविक शिक्षा, बालक के व्यक्तित्व का आदर और स्वावलम्बन आदि शिशु–शिक्षा सिद्धान्तों की बात तो कही, परंतु अपने बनाये हुए शिक्षा–उपकरणों के आग्रह के कारण उसकी शिक्षा–पद्धति कृत्रिम हो गयी। वह शिक्षा–क्रम भारत के लिये ही नहीं, संसार–भर के बालकों के लिये पूर्णतः अस्वाभाविक है। गांधीजी से जब मोण्टेसरी भेंट करने आयी तो उन्होंने उसकी शिक्षा–प्रणाली को भारत के लिये पूर्णतः अनुपयुक्त कहा। महाराष्ट्र में ताराबाई मोडक एवं गुजरात में गीजूभाई वधेका ने भारतीय शिशु–शिक्षा–पद्धति का विकास बालवाड़ी के रूप में करके सफल प्रयास किया है। ग्रामीण एवं वनवासी क्षेत्रों के बच्चों का स्थानीय सामग्री के माध्यम से, खेल–खेल में, क्रियाशीलता से मानसिक एवं इन्द्रिय विकास तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक गुणों का विकास करने की स्वाभाविक पद्धति के रूप में बालवाड़ी शिक्षा को मान्यता प्राप्त हुई है।

प्रायः शिशु–विद्यालयों में, जो नर्सरी एवं मोण्टेसरी के नाम से चलते हैं, प्राथमिक शिक्षा–क्रम के समान ही पढ़ना–लिखना, अंकगणित आदि विषयों के शिक्षण पर आग्रह रहता है। **3–4 वर्ष की आयु से बालकों पर इस लिखने–पढ़ने की औपचारिक शिक्षा का भारी विपरीत प्रभाव पड़ता है। कोमल इन्द्रियों एवं मति के बच्चों का विकास इससे अवरुद्ध हो जाता है।**

अतः शिशु–वाटिका (पूर्व प्राथमिक शिक्षा) शिक्षा–स्तर पर बालकों को उनकी रचना–शक्ति एवं सक्रियता का पूर्ण उपयोग करते हुए, खेल–क्रियाओं के माध्यम

से उनका मानसिक, शारीरिक, भावात्मक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास करने वाले अनौपचारिक पाठ्यक्रम की आवश्यकता है। भारत में सरस्वती शिशु–मन्दिरों में इस आयु के बालकों के लिये सफल शिशु–वाटिका शिक्षा–पद्धति एवं अनौपचारिक पाठ्यक्रम का विकास एवं प्रयोग हो रहा है।

ग्रामीण शिक्षा

भारत की 76 प्रतिशत जनसंख्या (1971) 7 लाख ग्रामों में निवास करती है। **भारत की इस ग्रामीण जनसंख्या के विचार के बिना राष्ट्र की संकल्पना ही नहीं की जा सकती।** हज़ार वर्षों के विदेशी आक्रमणों से संघर्ष करता हुआ हमारा देश विश्व में सम्मानित राष्ट्र के रूप में आज खड़ा है। इसके अनेक कारणों में से ग्रामों में बसा भारत भी एक प्रमुख कारण है। आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक, पंचायत–व्यवस्था आदि की दृष्टि से ग्राम एक सम्पन्न एवं स्वावलम्बी इकाई थी। **यह धारणा असत्य है कि भारत की ग्रामीण जनसंख्या सदा से निरक्षर एवं अशिक्षित थी। भारत में अंग्रेजों के आगमन से पूर्व साक्षरता का प्रतिशत आज से अधिक था। (ब्यूटीफुल ट्री) प्रत्येक ग्राम में पहले एक शिक्षकीय विद्यालय होता था जो उत्तर भारत में टोल एवं दक्षिण भारत में अग्रहार कहलाता था। 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के राज्य के समय केवल बंगाल प्रान्त में अस्सी हजार टोल थे।** (डा. अल्तेकर) मन्दिरों, आश्रमों एवं गुरुकुलों में उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी। इस औपचारिक शिक्षा–व्यवस्था के अतिरिक्त देशभर में अनौपचारिक शिक्षा की उत्तम व्यवस्था थी। पुरोहित, कथावाचक, मन्दिर, संन्यासियों के प्रवास, तीर्थ–यात्राएँ, पर्व, मेले आदि अनौपचारिक शिक्षा के सशक्त माध्यम थे जिनके कारण भारत में अद्भुत राष्ट्रीय एकता एवं सांस्कृतिक संगठन विद्यमान था और पर्याप्त मात्रा में आज भी अवशिष्ट है।

अंग्रेजों के शासन–काल में ग्रामों की उपेक्षा हुई। अपना शासन बनाये रखने के लिये उन्होंने केवल कुछ नगरों की ओर ध्यान दिया और अंग्रेजी शिक्षा–पद्धति लागू की। **अंग्रेजी पढ़े–लिखे लोग ग्रामीण जीवन को पिछड़ा समझने लगे और उसे हेय दृष्टि से देखने लगे।** गांधी जी ने अवश्य ग्रामों के महत्व को समझा और स्वतन्त्रता–संघर्षकाल में भी ग्राम स्वराज्य, स्वदेशी आन्दोलन, ग्रामोद्योग, 'बेसिक शिक्षा' आदि रचनात्मक कार्यक्रम आरम्भ किये और इन्हें अपने आन्दोलन का आधार बनाया।

स्वाधीन भारत की सरकार द्वारा भी ग्रामों की उपेक्षा की गयी। देश को रूस और अमेरिका की प्रतिकृति बनाने का स्वप्न साकार करने के

लिये औद्योगीकरण की होड़ में झोंक दिया। गांधी जी इसका सदा से विरोध करते आ रहे थे। उनका कहना था कि भारत में औद्योगीकरण की नीति तभी सफल हो सकती है जब भारत की जनसंख्या का किसी प्रकार से 1/10 भाग ही शेष रह जाय और उसे कुछ नगरों में लाकर बसा दिया जाय। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि **पश्चिम का अनुकरण कर भारत की संस्कृति, सामाजिक जीवन, ग्रामीण समाज–व्यवस्था और परिवार–व्यवस्था नष्ट–भ्रष्ट हो जायेंगे।** पं. दीनदयाल उपाध्याय की आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण की नीति के पीछे भी यही भाव था।

सन् 1948 में डा. राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने देशभर में भारी संख्या में ग्रामीण अंचलों में ही ग्रामीण विद्यापीठ आरम्भ करने की संस्तुति की थी। उन्होंने इन विद्यापीठों को आदर्श ग्रामों के रूप में बसाने को कहा था। डा. राधाकृष्णन ने और भी अनेक सुझाव और चेतावनियाँ दी थीं। उनकी एक चेतावनी यह थी कि **"यदि हमने बिना सोचे–समझे पश्चिम के विज्ञान और प्रौद्योगिकी का अनुकरण किया तो भारत में राक्षस–राज्य की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।"**

किन्तु हमारे नेताओं पर पश्चिम का भूत सवार है। परिणाम हमारे सामने है। इसमें सन्देह नहीं कि देश में प्रगति हुई है। परन्तु यह प्रगति केवल नगरों, कस्बों और उनके आसपास के कुछ गाँवों तक देश की केवल 20 प्रतिशत जनसंख्या तक सीमित है। देश की 80 प्रतिशत जनता आज भी पिछड़ी है, जिसे विकास का लाभ प्राप्त नहीं हो रहा है। 56 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी की रेखा से नीचे जीवन व्यतीत कर रही है, जिसे दो समय भोजन भी प्राप्त नहीं होता। 5 करोड़ वनवासी (आदिवासी) अमानवीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। ग्रामों में केवल 28 प्रतिशत साक्षरता बतायी जाती है, वह भी कागजी है। ग्रामीण विद्यालयों की दुरवस्था से सभी परिचित हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हमें देश को इस स्थिति से मुक्त करने के लिये आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी का भरपूर उपयोग करना होगा। किन्तु पश्चिम का अन्धानुकरण न कर हम अपने देश की परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन कर उसका उपयोग करेंगे।

किन्तु इस तथ्य की उपेक्षा कर नगरों के विकास एवं भारी उद्योगों की स्थापना की नीति स्वतन्त्र भारत की सरकार ने अपनायी। भारत के प्रमुख उद्योग कृषि को विकास–योजनाओं का आधार नहीं बनाया गया। परिणामतः ग्रामों से भारी जनसंख्या नगरों की ओर पलायन करने लगी। महानगरों में श्रमिकों की मलिन बस्तियों की जनसंख्या दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। मुम्बई की तो लगभग आधी जनता मलिन बस्तियों में निवास करती है।

देश के सभी विश्वविद्यालय नगरों में स्थित हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये ग्रामीण युवक नगरों में आते हैं। वे नगर–सभ्यता की चकाचौंध से प्रभावित होकर ग्रामों में वापस नहीं जाना चाहते और नगरों में ही नौकरी की तलाश करते रहते हैं। परिणामतः परिवार टूट रहे हैं, प्राचीन ग्रामीण कुटीर उद्योग समाप्त हो गये, कृषि उद्योग परम्परागत पद्धति से चल रहा है। ग्रामीण भारतीय संस्कृति नष्ट हो रही है और टेलीविजन एवं नगरों के सम्पर्क के कारण ग्रामीण जनता उनका अनुकरण करने में संलग्न है। बहुजन संख्या बीमारी, अज्ञानता एवं निर्धनता की समस्याओं से ग्रस्त है। इसके परिणामस्वरूप सरकारी ग्रामीण विकास योजनाओं को ग्रामों के निचले स्तर तक ले जाने वाले कार्यकर्त्ता उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। ग्रामीण विद्यालय बिना शिक्षकों के और ग्रामीण अस्पताल बिना चिकित्सकों के चल रहे हैं।

अतः भारत की 76 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या की शिक्षा एवं उनके विकास के सभी पक्षों की ओर हमारा चिन्तन एवं योजनाएँ केन्द्रित होनी चाहिएं। इसके बिना देश उन्नति नहीं कर सकता और न वह एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में ही खड़ा हो सकता है। डा. राधाकृष्णन् विश्वविद्यालय की शिक्षा आयोग की संस्तुति के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण विद्यापीठों की स्थापना की जाय। ये विद्यापीठ ग्रामों के सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक चेतना के केन्द्रों के रूप में कार्य करें। इनमें ग्रामीण परिवेश के अनुरूप शिक्षा का स्वरूप विकसित हो, जिससे छात्रों में अपने देश और समाज के साथ–साथ ग्राम–जीवन के प्रति भी प्रेम जाग्रत हो तथा उसमें यह भाव उत्पन्न हो कि शिक्षा समाप्त करके अपने ग्राम की सेवा एवं उसके विकास में अपना जीवन समर्पित करेंगे और नगरों की ओर पलायन नहीं करेंगे।

आधुनिक ज्ञान–विज्ञान के साथ कृषि–विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी तथा उससे सम्बन्धित उद्योग पाठ्यक्रम के मूल विषय हों। छात्रों में श्रम के प्रति निष्ठा का संवर्द्धन करने की आवश्यकता है। प्रतिभाशाली ग्रामीण छात्रों की खोज करके उनके विकास में आवश्यक सहायता की जाय तथा उनमें ग्रामीण समाज का नेतृत्व करने की क्षमता एवं प्रवृत्ति उत्पन्न करने पर विशेष ध्यान देना होगा।

इन विद्यापीठों के माध्यम से अनौपचारिक शिक्षा के कार्यक्रम अपनाये जायें तथा इनके द्वारा ग्रामीण समाज में लोक–शिक्षण एवं लोक–संस्कार करने की वृहद् योजना संचालित की जानी चाहिए। इससे ग्रामीण समाज में रोगग्रस्तता, अज्ञान, दारिद्र्य एवं सामाजिक कुरीतियों से छुटकारा प्राप्त करने के प्रति चेतना जाग्रत होगी। यह कार्य शासन के बल पर पूर्ण होना सम्भव नहीं है। धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं को इस क्षेत्र में आगे आने की आवश्यकता है। इसके बिना भारत उन्नत एवं सशक्त राष्ट्र के रूप में खड़ा नहीं हो सकता।

वनवासी–शिक्षा

वनवासी समाज

अपने देश में पाँच करोड़ वनवासियों की जनसंख्या अधिकांशतः गिरिकन्दराओं एवं जंगलों में छोटे–छोटे ग्राम–समूहों में निवास करती है। इनमें लगभग 15 लाख जनसंख्या नौकरी या मजदूरी आदि करने के लिए नगरों में पलायन कर गयी है। **सरकार भाषा में वनवासियों को अनुसूचित जनजाति (शेड्यूल ट्राइब्स) कहा जाता है।** अंग्रेजों ने इन्हें हिन्दू समाज से अलग करने की अपनी कुटिल नीति के कारण आदिवासी (ट्राइब्स) नाम दिया जो आज भी प्रचलित है। हम लोग इन्हें समाज का अभिन्न अंग मानते हैं तथा 'वनवासी' शब्द से सम्बोधित करते हैं।

प्रायः वनवासियों के विषय में यह धारणा प्रचलित है कि वे असभ्य, जंगली एवं हिसंक लोग होते हैं। किन्तु यह धारणा असत्य है। **वनवासी समाज निष्कपट होने के साथ–साथ सेवाभाव, स्वाभिमान, त्याग, भक्ति, शौर्य और पराक्रम गुणों से सम्पन्न होता है।** भगवान राम से लेकर महाराणा प्रताप एवं शिवाजी के काल तक देश–रक्षा के लिये समय–समय पर प्रकट किये गये उनके पराक्रम तथा बलिदान की गाथाएँ इतिहास की धरोहर हैं। सन् 1857 व उसके बाद भी अंग्रेजों से भारत को मुक्त कराने के लिये लड़े नये स्वाधीनता–संग्राम में वनवासियों का योगदान महत्वपूर्ण रहा।

घोर दारिद्र्य और ईसाई मिशनरी

यह सत्य है कि वनवासी बन्धु आज दारिद्र्य और अकल्पित विवशता की पराकाष्ठा का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। वे आधुनिक सभ्यता के साधनों से पूर्णतः वंचित हैं और सभी प्रकार के अभावों से त्रस्त होकर शोषण तथा दमन की यातनाएँ भोग रहे हैं। ईसाई मिशनरियों ने उनकी इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाकर अंग्रेजी शासन के प्रारम्भ से लेकर स्वाधीन भारत में आज भी धर्मान्तरण का अपना कार्य चालू रखा हुआ है। उत्तर पूर्वांचल में नागालैण्ड, मेघालय एवं मिजोरम राज्यों का जन्म इन्हीं धर्मान्तरित ईसाईयों की राजनीति के कारण हुआ है। बिहार, उड़ीसा एवं मध्य प्रदेश में झारखण्ड राज्य बनाने के इनके प्रयत्न चल रहे हैं। मध्य प्रदेश के नियोगी आयोग के प्रतिवेदन ने ईसाइयों के कुचक्र का पर्याप्त विवरण दिया है। इसी के परिणामस्वरूप मध्य प्रदेश, उड़ीसा एवं अरुणाचल राज्यों की सरकारों को

धर्मान्तरण के विरुद्ध विधान (कानून) बनाना पड़ा। अभी हाल में तमिलनाडु में श्री वेणीगोपाल आयोग के प्रतिवेदन के कारण इसी प्रकार का कानून बनाने का विचार चल रहा है।

हमारे द्वारा उपेक्षा

वनवासियों की आज की स्थिति के लिये हमारा समाज भी कम दोषी नहीं है। हमने उनकी सदैव उपेक्षा की है। उनके साथ मनुष्यता का व्यवहार नहीं किया, केवल अपने स्वार्थ के लिये हमने उनका उपयोग किया। उनको दो समय पेट–भर भोजन मिल सके, इसकी व्यवस्था नहीं की। उन्हें कोई उद्योग–धन्धे नहीं दिये। सम्मान से वे अपना जीवनयापन करते हुए राष्ट्र के सुव्यवस्थित घटक बनें, इसके लिये हमने उनकी शिक्षा–दीक्षा की व्यवस्था नहीं की। कुछ शताब्दियों से हमने उनके प्रति अपने इस कर्त्तव्य का पालन नहीं किया। श्री रामकृष्ण मिशन द्वारा तथा ठक्कर बाप्पा द्वारा आदिम जाति संघ के माध्यम से अवश्य कुछ वर्षों से इस क्षेत्र में काम हुआ है। अब स्वतन्त्र भारत में वनवासी कल्याण आश्रम के द्वारा इस क्षेत्र में एक चेतना की लहर जाग्रत हुई है।

1960 के उ.न. डेबर आयोग के प्रतिवेदन के पश्चात् शासन का ध्यान वनवासी–क्षेत्र की ओर गया। जनजातियों के विकास के लिये पर्याप्त आर्थिक सुविधाओं की व्यवस्था की गयी। किन्तु इन आर्थिक सुविधाओं का लाभ केवल कुछ ऊपर के वर्ग को प्राप्त हुआ। सर्वसामान्य वनवासी की स्थिति और भी दयनीय ही हुई है। शिक्षा के क्षेत्र में भी शासन ने कुछ प्रयास किये। आश्रम विद्यालय भी पर्याप्त संख्या में खोले गये। किन्तु इनकी साक्षरता का प्रतिशत 9 से अधिक नहीं बढ़ सका।

वनवासी–शिक्षा का उद्देश्य

हमारी यह मान्यता है कि वनवासी अपने समाज एवं राष्ट्रीय जीवनधारा के अभिन्न अंग हैं। हिन्दू समाज की उपेक्षा के कारण ही आज उनकी दयनीय स्थिति हुई है। विदेशी ईसाई मिशनरियों ने हमारी उपेक्षा का एवं उनकी दरिद्रता का लाभ उठाकर उनका धर्मान्तरण किया है। **अब हमें अपनी भूल का प्रायश्चित कर वनवासी बन्धुओं को प्रेम, सेवा एवं शिक्षा के माध्यम से अपने समाज एवं राष्ट्रीय जीवन का स्वाभिमानी, जागरुक एवं स्वावलम्बी घटक बनाना है।** इस उद्देश्य को वनवासी क्षेत्र में शिक्षा–प्रसार के द्वारा पूर्ण करने की आवश्यकता है।

वनवासी क्षेत्र की शिक्षा का स्वरूप

1. राष्ट्रीयता एवं देश–भक्ति के संस्कार – आज देश के सम्मुख सबसे प्रमुख समस्या है राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता की। इस समस्या का समाधान शिक्षा में निहित है। हमें शिक्षा के माध्यम से वनवासी समाज के बालकों को राष्ट्रीय एवं मातृभूमि भारत के प्रति भक्तिभाव के संस्कारों से संस्कारित करना है। उनमें भारतीय संस्कृति, धर्म एवं आध्यात्मिकता के प्रति गौरवयुक्त श्रद्धा के भाव जाग्रत करने होंगे।

2. वनवासी–जीवन की विशेषताओं का विकास – वनवासी–जीवन की सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक परम्पराओं आदि की विशेषताओं का शिक्षा के माध्यम से विकास करना है। आधुनिकता के नाम पर उनकी विशेषताओं को समाप्त नहीं करना है। वनवासियों में स्वाभिमान, सेवाभाव, परिश्रम, ईमानदारी आदि ऐसे महत्वपूर्ण गुण विद्यमान हैं जो तथाकथित शिक्षित एवं विकसित वर्ग में उपलब्ध नहीं होते। हमें ऐसी शिक्षा प्रणाली अपनानी होगी जिससे उनके इन गुणों का विकास हो सके।

3. राष्ट्रीय इतिहास के साथ वनवासियों के गौरवपूर्ण इतिहास का ज्ञान कराना – भारत के राष्ट्रीय इतिहास के ज्ञान के साथ–साथ वनवासियों के अपने गौरवपूर्ण इतिहास का परिचय भी छात्रों को कराना चाहिए। उदाहरणार्थ– गोंड राजाओं ने शताब्दियों तक राज्य किया। उत्तर–पूर्वांचल में दिमासा जनजाति के अनेक राजा हुए जिन्होंने आसाम पर मुसलमानों के आक्रमणों का सामना किया। महाराणा प्रताप एवं शिवाजी को भील सरदारों ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी सहयोग दिया–इस प्रकार के ऐतिहासिक प्रसंगों को छात्रों को बताना चाहिए। भारतीय स्वतन्त्रता–संग्राम में विरसा भगवान एवं रानी गइडि नल्यू इत्यादि के जीवन–चरित्र पढ़ाने चाहिए। रामायण एवं महाभारत की कथाओं के माध्यम से प्राचीन भारत का इतिहास बताना चाहिए और उनमें वनवासियों के प्रसंगों पर राष्ट्रीय एवं धार्मिक महत्व की दृष्टि से प्रकाश डालना चाहिए।

4. शिक्षा का माध्यम–मातृभाषा – वनवासी बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम उनकी मातृभाषा होनी चाहिए। यद्यपि यह सत्य है कि वनवासियों की भाषाएँ अनेक हैं और उनकी अपनी कोई लिपि भी नहीं होती, किन्तु इसके लिये प्रयास करने की आवश्यकता है। उसके लिये क्षेत्रीय भाषा की लिपि एवं देवनागरी–इन दोनों लिपियों को अपनाना होगा जिससे वे अपने क्षेत्र के साथ–साथ सम्पूर्ण देश के साथ जुड़ सकें। इसके लिए हमें उनकी भाषा में प्रारम्भिक कथाओं की पुस्तकें तैयार करानी होंगी और उनकी भाषा के जानकार शिक्षक भी तैयार करने होंगे। हाफलोंग में जेमी भाषा की प्रारम्भिक पुस्तकें देवनागरी लिपि में तैयार करायी गयी हैं और

उनके माध्यम से उन्हें शिक्षा प्रदान की जाती है। इस प्रकार का प्रयास हमें वनवासी–क्षेत्रों में सर्वत्र करना होगा।

5. व्यावसायिक शिक्षा – वनवासी–क्षेत्र की शिक्षा को जीविका के साधनों से जोड़े बिना सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। वनवासी बालक–बालिका धरती पर चलना सीखने के साथ ही माता–पिता की अनेक काम–धन्धों में सहायता करते हैं। ऐसी स्थिति में उस क्षेत्र के अनुकूल व्यावसायिक शिक्षा को उनके पाठ्यक्रम का महत्वपूर्ण अंग बनाना होगा, तभी शिक्षा उनके लिये आकर्षक एवं जीवनोपयोगी हो सकती है। वनवासी बालक परिश्रमी एवं कलाकौशल में निपुण होते हैं। अतः कृषि एवं कुटीर उद्योग–कताई–बुनाई, हस्तकला, चित्रकारी–वनीकरण (फोरेस्ट्री), बागवानी, पशुपालन आदि विषयों का प्रशिक्षण सामान्य ज्ञान–विज्ञान के साथ आवश्यक है।

6. शिक्षण प्रणाली – विभिन्न विषयों का ज्ञान परिवेश को आधार बनाकर, सरल कथाकथन–पद्धति से, चित्रों, माडल, गीतों आदि के माध्यम से कराना होगा। 'बेसिक शिक्षा' पद्धति इन क्षेत्रों में उपयोगी सिद्ध हो सकती है। वनवासी–क्षेत्र के परिवारों का वातावरण भिन्न प्रकार का होता है, अतः इन क्षेत्रों की शिक्षण–विधि नगर के समान अपनाने से शिक्षक को सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

7. विद्यालय सामाजिक चेतना के केन्द्र हों – वनवासी क्षेत्र के विद्यालयों का सम्बन्ध केवल उनमें पढ़ने वाले छात्रों के जीवन तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, अपितु विद्यालय वनवासी–ग्राम अथवा क्षेत्र के जीवन से जुड़ा हुआ होना चाहिए। वनवासी समाज में व्याप्त कुरीतियों का अध्ययन कर उनके उन्मूलन की चेतना उन्हीं के भीतर से जाग्रत हो, इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए। विद्यालय के माध्यम से क्षेत्र में राष्ट्रीयता, देशभक्ति, भारतीय संस्कृति एवं धर्म के प्रति आस्था एवं गौरव के भाव जाग्रत करने हेतु विविध क्रियाकलाप अपनाये जाने चाहिएं। पर्वों, उत्सवों, सम्मेलनों के आयोजनों द्वारा उनके भीतर अपेक्षित स्वस्थ सामाजिक चेतना जाग्रत की जा सकती है।

वनवासी क्षेत्र के लोगों की समस्याओं एवं कठिनाइयों के समाधान का मार्गदर्शन विद्यालय से मिलना चाहिए, तभी हम उनके जीवन के साथ समरस हो सकते हैं और अपेक्षित सामाजिक परिवर्तन कर सकते हैं। क्षेत्र के लोगों में विद्यालय के प्रति अपनेपन की भावना का विकास भी इसी प्रकार होगा।

8. विद्यालय स्वावलम्बी बनें – वनवासी–क्षेत्र में आर्थिक समस्याएँ विकट रूप में होती हैं। छात्र विद्यालय–शुल्क देने में असमर्थ, किन्तु परिश्रमी होते हैं। अतः उनके इस गुण का उपयोग करते हुए विद्यालय में कृषि, उद्यान (बगीचे) आदि में उनके द्वारा काम कराया जा सकता है, जिसकी आय से विद्यालय को सहयोग मिल सकता है। विद्यालय के भवन–निर्माण एवं टूट–फूट सुधार में भी छात्रों एवं

ग्रामवासियों का शारीरिक सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। हाफलोंग के विद्यामंदिर में छात्रों ने भवन–निर्माण में शारीरिक सहयोग देकर हजारों रुपये की मजदूरी की बचत की। छात्र ही एक छात्रावास के लिये जंगल से बाँस और फूस काटकर लाये तथा उन्होंने स्वयं इतने सुन्दर छप्पर का निर्माण किया जिसका यदि मजदूरी देकर निर्माण कराया जाता तो दस हजार रूपये से कम व्यय नहीं होता। इसी प्रकार ग्रामवासियों से भी भिन्न प्रकार का सहयोग प्राप्त कर विद्यालय को स्वावलम्बी बनाया जा सकता है।

हमें सरकारी अनुदान पर निर्भर न रहकर समाज के सहयोग के बल पर वनवासी–क्षेत्र में विद्यालय चलाने हैं। हमारा कार्य अच्छा है तो समाज से आर्थिक सहयोग प्राप्त करने में कठिनाई नहीं होगी।

छात्रों को वनवासी समाज का नेतृत्व ग्रहण करने हेतु तैयार करना

प्रायः देखा यह गया है कि वनवासी छात्र शिक्षा प्राप्त करके नगरों को पलायन कर जाते हैं। यहाँ तक कि ये अपने ग्राम में आना भी नहीं चाहते। हमें इस प्रवृत्ति को रोकना है। छात्रों में प्रारम्भ से ही अपने परिवार, ग्राम एवं समाज के प्रति लगाव एवं प्रेम का निर्माण करना है, जिससे वे विकसित होकर अपने ग्राम एवं समाज का नेतृत्व ग्रहण कर उनकी सेवा करें तथा उन्हें वर्तमान दयनीय स्थिति से उबारकर देश के अन्य लोगों के साथ विकास के मार्ग पर अग्रसर कर सकें। यह शिक्षा पाकर वे अपने गाँव और समाज को इस योग्य बनायें कि जिससे ये देश की राजनीतिक, सामाजिक सांस्कृतिक मुख्य धारा से जुड़ सकें तथा हमारे विशेष अधिकारों और कर्त्तव्यों में अपना भाग प्राप्त कर सकें।

हमें प्रारम्भ से ऐसे बालकों का, उनकी प्रतिभा की खोज करके, चयन करना होगा और उन्हें इस दृष्टि से ज्ञान, कुशलता एवं चरित्र से सम्पन्न बनाकर विकसित करने का प्रयास करना होगा। इनमें से वनवासी–क्षेत्र के लिये हमें अच्छे शिक्षक भी प्राप्त हो सकेंगे।

शिक्षक एवं उनका प्रशिक्षण

शिक्षक शिक्षा–प्रक्रिया की धुरी होता है। वनवासी–क्षेत्र की शिक्षा की सफलता हमारे शिक्षकों पर निर्भर है। इसके लिये हमें अच्छे शिक्षकों की खोज कर उनके विकास हेतु प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी होगी। अपने वनवासी बन्धुओं के प्रति आत्मीयता का भाव रखने वाले, सेवा एवं ध्येय–वृत्ति के युवक ही वनवासी–क्षेत्र में शिक्षक के दायित्व का निर्वाह कर सकते हैं। हमें वनवासी युवकों को ही इस दृष्टि

से प्राथमिकता देनी चाहिए। उनकी शिक्षा आदि की कमियों को पूरा कर उन्हें अच्छा प्रशिक्षण देकर कुशल शिक्षक के रूप में विकसित करना होगा।

वनवासी समाज को हेय दृष्टि से न देखने वाला, उनकी सांस्कृतिक एवं सामाजिक परम्पराओं से परिचित और उनकी भाषा समझने वाला व्यक्ति ही वनवासी–क्षेत्र में सफल शिक्षक हो सकता है तथा वह वनवासी बन्धुओं के मित्र, हितैषी एवं मार्गदर्शक के रूप में कार्य कर सकता है।

8

शिक्षण के सिद्धांत एवं पद्धतियाँ

शिक्षण संस्कार–प्रक्रिया

शिक्षण का तात्पर्य मनुष्य के ज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं क्रियात्मक संस्कारों का समन्वय एवं विकास करना है तथा उसके व्यवहार में परिवर्तन अथवा परिमार्जन लाना है। ज्ञान से इच्छा का जागरण होता है और इच्छा मनुष्य को क्रियाशील बनाती है अर्थात् व्यवहार कराती है। व्यवहार में परिवर्तन लाने को ही सीखना या अधिगम कहते हैं। सीखना और सिखाना ही शिक्षण–संस्कार है। शिक्षण की प्रक्रिया में तीन कारक निहित रहते हैं। प्रथम–बालक, जो इस प्रक्रिया का आधारबिन्दु है; द्वितीय–विषयवस्तु, जो उसे सीखनी है; और तृतीय–शिक्षण, जो सीखने में सहायता प्रदान करता है। बालक जन्म से अपरिपक्व होता है, अतः उसे पथ–प्रदर्शन की आवश्यकता है। पश्चिम के कुछ शिक्षाविदों ने बालक के शिक्षण में 'प्रयास और भूल' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जो अव्यावहारिक एवं अपूर्ण सिद्धान्त है। वास्तव में शिक्षण वह संस्कार प्रक्रिया है जो अनुभवी व्यक्ति अर्थात् शिक्षक के मार्गदर्शन में विद्यार्थी द्वारा अभीष्ट ज्ञान एवं अनुभव अर्जित करने हेतु अभ्यास के रूप में सम्पन्न की जाती है। इसलिये शिक्षण को अभ्यास भी कहा जाता है और पाठ्यक्रम को अभ्यास–क्रम।

शिक्षण के सिद्धान्त

1. ज्ञान अर्जित किया जाता है, दिया नहीं जाता

श्री अरविन्द के अनुसार– "सच्चे शिक्षण का प्रथम सिद्धान्त है कि कुछ भी सिखाया नहीं जा सकता।" कोई प्रशिक्षक या काम लेने वाला नायक नहीं है। उसका काम सुझाव देना है, थोपना नहीं। वह सचमुच विद्यार्थी के मानस को प्रशिक्षित नहीं करता। वह उसे केवल यह बताता है कि अपने ज्ञान के उपकरणों को कैसे पूर्ण बनाया जाय और वह उसे इस कार्य में सहायता देता और प्रोत्साहित करता है। वह उसे ज्ञान नहीं देता। वह उसे यह बतलाता है कि अपने लिये ज्ञान कैसे प्राप्त किया

जाय। वह अन्दर स्थित ज्ञान को प्रकट नहीं करता, वह केवल यह दिखलाता है कि वह कहाँ पड़ा है और उसे ऊपरी तल पर आने के लिये कैसे अभ्यस्त किया जा सकता है। जो प्रभेद इस सिद्धान्त को केवल व्यस्क और किशोर मन की शिक्षा के लिये आरक्षित रखता है और बालक के लिये उसे लागू करने से इन्कार करता है, वह एक पंराणपंथी और नासमझ सिद्धान्त है। बालक हो या वयस्क, लड़का हो या लड़की, शिक्षा देने का सबके लिये एक ही सिद्धान्त है। अवस्था–भेद आवश्यक सहायता और पथ–प्रदर्शन की मात्रा को घटा–बढ़ा सकता है, इससे सिद्धान्त की प्रकृति नहीं बदलती।

स्वामी विवेकानंद ने कहा है कि "मनुष्य के अन्तर में समस्त ज्ञान अवस्थित है। आवश्यकता है उसे जाग्रत करने के लिये उपयुक्त वातावरण निर्मित करने की। उस वातावरण का निर्माण करना ही शिक्षण–कार्य है।" उपयुक्त वातावरण से ही ज्ञान का प्रकटन या विकसन होता है। यह विकसन शिक्षक नहीं कर सकता। जिस प्रकार एक पौधा स्वयं बढ़ता है, हम उसे बढ़ा नहीं सकते; हम केवल उसे पानी या खाद दे सकते हैं, उसकी भूमि को गोड़ सकते हैं, जिससे उसकी जड़ों को सूर्य की किरणों और वायु प्राप्त हो सके। सुरक्षा के लिये उसके चारों ओर बाड़ लगा सकते हैं। बढ़ता तो पौधा स्वयं है। इसी प्रकार शिक्षक बालक को पढ़ा या सिखा नहीं सकता। पढ़ने या सीखने की प्रक्रिया तो बालक को स्वयं करनी होती है। शिक्षक उसकी सहायता करता है; उसके लिये उपयुक्त अवसर एवं वातावरण का निर्माण करता है।

शिक्षक ऐसा मार्गदर्शक, सहायक और उससे बढ़कर अनुभवी मित्र होता है जिसकी ओर विद्यार्थी मार्ग न खोज पाने पर या किसी संकेत की आवश्यकता होने पर प्रसन्नता और विश्वासपूर्ण देखते हैं। शिक्षक की भूमिका आज्ञा देने वाले की अपेक्षा सलाहकार और प्रस्तोता की होनी चाहिए। उसे बालक को यह बताना चाहिए कि वह विषय का मनन किस प्रकार करे और सीखने के लिये किस प्रकार निजी विधि का विकास करे तथा एकत्र किये या खोजे हुए ज्ञान को किस प्रकार समंजित करे। शिक्षक को यह स्मरण रखना चाहिए कि बालक काम करके और स्वयं खोज करके उत्तम ढ़ंग से सीखता है, न कि तथ्यात्मक ज्ञान–प्रदर्शन को दब्बू बनकर सुनने से। केवल इसी खोज की ओर प्रवृत्त करने वाली क्रियात्मक और सर्जनात्मक प्रक्रिया से ही बच्चे में रुचि उत्पन्न होती है, उसे आनन्द मिलता है और उसका ध्यान तुरन्त आकर्षित होता है।

2. बालक की प्रकृति के अनुरूप स्वतन्त्रतापूर्वक विकास

शिक्षण का दूसरा सिद्धान्त यह है कि मन के विकास में स्वयं उसकी सलाह ली जाय। बच्चे को हथौड़ी मार–मारकर माता–पिता या अध्यापक के चाहे हुए रूप

में गढ़ना एक अज्ञानपूर्ण और बर्बर अन्धविश्वास है। विद्यार्थी को यह प्रेरणा देनी चाहिए कि वह अपनी प्रकृति के अनुसार अपना विकास करे। माता–पिता के लिये इससे बड़ी भूल नहीं हो सकती कि वे पहले से निश्चित कर लें कि उनका बेटा अमुक गुण, अमुक क्षमताएँ, विचार या विशेषताएँ विकसित करेगा या उसे पहले से ही निश्चित अमुक प्रकार की जीविका के लिये तैयार किया जाय। प्रकृति को इस बात के लिये बाध्य करना कि वह स्वधर्म छोड़ दे, उसे स्थायी क्षति पहुँचाना, उसके विकास को विकृत करना और उसकी पूर्णता को विरूप कर देना है। यह मानव आत्मा पर स्वार्थपूर्ण अत्याचार है, राष्ट्र पर एक आघात है, जिसके कारण वह मनुष्य के सर्वोत्तम कार्य के लाभ से वंचित हो जाता है और उसके बदले अपूर्ण, कृत्रिम, घटिया, औपचारिक और सामान्य वस्तु स्वीकार करने के लिये बाधित होता है।

प्रत्येक बालक में कुछ दिव्य अंश होता है, ऐसा–जो उसका अपना होता है। भगवान् स्वीकार करने या त्याग देने के लिये एक क्षेत्र देते हैं जिसमें वह पूर्णता और शक्ति पा सकता है, वह चाहे कितना भी छोटा क्यों न हो। मुख्य काम है खोजना, विकसित करना और उसका उपयोग करना। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए अन्तरात्मा की इस बात में सहायता करना कि वह अपने अन्तर की अच्छी से अच्छी वस्तु को बाहर लाये और उसे किसी उदात्त उपयोग के लिये पूर्ण बनाये।

3. पूर्व–संस्कारों के आधार पर विकास का अगला चरण

शिक्षण का तीसरा सिद्धान्त है निकट से दूर की ओर काम करते चलना, जो है उससे जो होगा उसकी ओर जाना। प्रायः ही मनुष्य के स्वभाव का आधार उसके आत्मा के अतीत के अतिरिक्त बहुत सी बातों पर निर्भर होता है, जैसे–उसकी आनुवंशिकता, उसका पास–पड़ोस, उसकी राष्ट्रीयता, उसका देश, वह धरती जहाँ से वह आहार पाता है, वह वायु जिसमें वह साँस लेता है, वे दृश्य, वे आवाजें और वे आदतें जिनके लिये वह अभ्यस्त है। ये अनजान में, अपने पूर्ण बल के साथ स्वभाव को ढालते हैं, और हमें वहीं से प्रारंभ करना चाहिए। हमें स्वभाव को उस भूमि में से जड़ से नहीं उखाड़ देना चाहिए जहाँ उसे पनपना है। मन को ऐसे बिम्बों और ऐसे जीवन के विचारों से नहीं घेर देना चाहिए जो उस जीवन के विरोधी हों जिनमें उसे हिलना–डुलना है। यदि बाहर से कोई वस्तु लानी है तो वह मन पर बलपूर्वक आरोपित न की जाय, उसे भेंट की जा सकती है। सच्चे विकास के लिये एक आवश्यक शर्त है–स्वाभाविक और मुक्त बुद्धि। ऐसे आत्मा होते हैं जो अपने परिवेश के विरुद्ध विद्रोह करते हैं और ऐसा लगता है कि वे किसी और ही युग, किसी और ही देश के हैं। उन्हें अपनी रुचि का अनुसरण करने दो। परन्तु कृत्रिम रूप में ढ़ाले जाने पर अधिकतर लोग क्षीण, रिक्त और बनावटी बन जाते हैं। भगवान् की व्यवस्था

है कि अमुक लोग किसी राष्ट्र विशेष, देश, युग, समाज के हों। वे अतीत के बालक, वर्तमान के भोक्ता और भविष्य के निर्माता हों। अतीत हमारी नींव है, वर्तमान हमारा उपादान है, भविष्य हमारा लक्ष्य और शिखर है। राष्ट्रीय शिक्षा–पद्धति में हर एक को अपना उचित और स्वाभाविक स्थान मिलना चाहिए।

4. ज्ञानेन्द्रियों द्वारा शिक्षण

अनुभव ज्ञानार्जन की कुंजी है। वास्तविक स्थितियों में अनुभव भौतिक संसार की सीधी जानकारी कराता है। बालक ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त करता है वह उसका अनुभूत ज्ञान होता है। विषय–वस्तु जिस ज्ञानेन्द्रिय से सम्बन्धित हो, उसके द्वारा अनुभव किया गया ज्ञान ही उस वस्तु का वास्तविक ज्ञान है। पाँच इन्द्रियाँ ज्ञान–प्राप्ति के उपकरण हैं–चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, स्पर्श और रस। ये भौतिक स्नायुओं के द्वारा अपने भौतिक करण आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा के द्वारा रूप, गन्ध, शब्द आदि विचार–सामग्री इकट्ठा करती है। शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने के लिये इन इन्द्रियों का पूर्णतः परिष्कृत एवं दोष–रहित होना आवश्यक है। यदि किसी अवयव में दोष हो तो उसकी चिकित्सक के द्वारा चिकित्सा करानी चाहिए। यदि दोष स्नायु–तरंगों में है तो इसका उपचार बहुत सरल हैं वह है प्राणायाम। यह पद्धति वाहिकाओं की सम्पूर्ण एवं बाधारहित गति को फिर से ले आती है। यदि ठीक प्रकार से अभ्यास किया जाय तो वह इन्द्रियों की गति को तेज कर सकता है। योग की परिभाषा में इसी को 'नाड़ी–शुद्धि' कहते हैं। स्नायुमण्डल में किसी भावना के उथल–पुथल से भी इन्द्रियों के द्वारा विपर्यय ज्ञान होता है, जैसे–संवेदन क्रिया पर भय का प्रभाव। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य रज्जू को साँप या झूलते हुए परदे को भूत का आकार मान लेता है। इसका एकमात्र उपाय है स्नायुओं की अभ्यासगत स्थिरता। यह स्थिति नाड़ीशुद्धि से आती है। सारा स्नायुमण्डल संस्थान स्थिरता पाता है, आन्तरिक प्रक्रियाएँ शान्त, स्थिर हो जाती हैं। परिणामतः ज्ञान की प्रक्रिया ठीक प्रकार से सम्पन्न होती है।

अभ्यास से इन्द्रियों की क्षमताओं का विकास होता है। विद्यार्थियों को अपने चारों ओर के दृश्यों, शब्दों आदि को सरलता से पकड़ सकना, उनमें भेद करना, उनके गुणों, उनकी प्रकृति और उनके मूल को जानकर उन्हें चित्त में प्रतिष्ठित कर सकना चाहिए ताकि स्मृति जब भी बुलाये वे सदैव प्रत्युत्तर देने के लिये तैयार रह सकें। सर्वप्रथम हमें विद्यार्थियों की अवलोकन की क्षमता का विकास करना चाहिए। यदि अवलोकन की क्षमता का पूर्ण एकाग्रता के साथ उपयोग किया जाय तो हमें तीनों मुख्य इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया जा सकने वाला पूरा ज्ञान मिल सकता है। फूलों, पत्तों, पौधों, पेड़ों का अवलोकन और तुलना करने से मन के ऊपर नामों और शुष्क

सूचनाओं के भार के बिना ही वनस्पति–शास्त्र के ज्ञान की आधारशिला रखी जा सकती है। इसी प्रकार तारों के अवलोकन से ज्योतिष, मिट्टी–पत्थर आदि से भूगर्भ, कीड़े–मकौड़ों और जन्तुओं के अवलोकन से कृमि–शास्त्र और प्राणिशास्त्र की नींव रखी जा सकती है। ऐसा कोई वैज्ञानिक विषय नहीं है जिस पर पूर्ण और स्वाभाविक अधिकार पाने की तैयारी बचपन में इस तरह भिन्न–भिन्न प्रकार की वस्तुओं के और वर्गों के अवलोकन, तुलना, स्मरण एवं मूल्यांकन के द्वारा इन्द्रियों द्वारा शिक्षण से न की जा सके। शिक्षण की इस प्रक्रिया से विद्यार्थी के मन में रुचि और तल्लीनता उत्पन्न हो सकती है। एक बार रुचि पैदा हो जाय तो बालक अपने खाली समय में पूरे उत्साह के साथ उसे आगे बढ़ायेगा और प्रत्येक कार्य कक्षा में ही करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

5. सच्चे शिक्षण के लिये मन का प्रशिक्षण एवं चित्त–शुद्धि आवश्यक

भारतीय मनोविज्ञान में मन को छठी इन्द्रिय माना गया है। मन का काम है वस्तुओं के बिम्ब को दृष्टि, श्रुति, घ्राण, स्वाद और स्पर्श के द्वारा प्राप्त करना और फिर उन्हें विचार–संवेदनाओं में अनूदित करना। मन विचार का सीधा संस्कार भी बाहर और भीतर से लेता है। सीधे विचार–संस्कार जो मन भीतर से लेता है वह मन की सूक्ष्म दृष्टि या अन्तर्दृष्टि की क्षमता कहलाती है। मन इन विचार–संस्कारों की सूचना बुद्धि को देता है। इन विचार–संस्कारों को बुद्धि तक शुद्ध रूप में पहुँचने में बाधाएँ आती हैं। पहली बाधा है स्नायविक भावुकता। यह प्राणायाम के अभ्यास से स्नायुमण्डल की शुद्धि से दूर की जा सकती है। दूसरी बाधा, स्वयं भाव ही आते हुए संस्कार को विकृत कर दे। प्रेम ऐसा कर सकता है, घृणा ऐसा कर सकती है, कोई भाव या कामना अपनी शक्ति और तीव्रता के अनुसार आते हुए संस्कार को विकृत कर सकती है। अगली बाधा है चित्त में बने हुए पहले के सम्बन्धों और साहचर्य से आने वाले हस्तक्षेप। वस्तुओं को देखने की हमारी एक अभ्यासगत विधि है। हम हर नयी अनुभूति को वैसा रूप और सादृश्य देते हैं, जिसके हम अभ्यस्त हैं। केवल अधिक विकसित मन ही नूतन अनुभूति को पूर्वाग्रह के बिना ग्रहण कर सकता है। चित्त–शुद्धि या मानसिक और नैतिक आदतों की शुद्धि के बिना इन बाधाओं से पिण्ड छुड़ाना असम्भव है। यह योग की प्रारम्भिक क्रिया है। यह स्पष्ट है कि जब तक हम अपनी प्राचीन भारतीय शिक्षण–पद्धति के कुछ सिद्धान्तों की ओर वापस नहीं जायेंगे, तब तक बाधाओं के इस मूल को अपने अन्दर रहने देना होगा। एक सच्ची शिक्षण–पद्धति इस सिद्धान्त को अपना अंग बनाये बिना नहीं रह सकती।

योग की इस पद्धति में अभ्यास के द्वारा चित्त में अपने ही संवेगों द्वारा उठने वाले अनियन्त्रित विचार–संवेगों की लगातार बाढ़ में निष्क्रियता लानी होती है। यह बुद्धि को पुराने साहचर्य और झूठे संस्कारों की कारा से मुक्त करती है। इससे बुद्धि को वह शक्ति मिलती है जिससे वह चित्त के स्मृति–भण्डार से केवल वही वस्तु चुने जिसकी आवश्यकता है। इससे अपने–आप सम्यक् संस्कार ग्रहण करने की आदत बनती है और तब बुद्धि चित्त को आदेश दे सकती है कि कौन से संस्कार या साहचर्य बनाये अथवा निरस्त किये जायें। बुद्धि का वास्तविक कार्य है विवेक, चयन, व्यवस्थापन, किन्तु जब तक चित्त–शुद्धि न हो तब तक अपना काम पूरा करने के स्थान पर चित्त स्वयं अधूरा और भ्रष्ट रहता है और मिथ्या निर्णय, मिथ्या कल्पना, मिथ्या स्मृति, मिथ्या तुलना और मिथ्या सादृश्य, मिथ्या निगमन, आगमन और निष्कर्ष के द्वारा मन की उलझनों को और भी बढ़ा देता है। बुद्धि की मुक्ति, शुद्धि और सम्यक् कार्य के लिये चित्त–शुद्धि आवश्यक है।[1]

6. लक्ष्य ज्ञानार्जन का मूल है

ज्ञानार्जन एवं विकास के लिये विद्यार्थी के सम्मुख लक्ष्य आवश्यक है। लक्ष्य से ज्ञान प्राप्त करने की एवं विकास करने की प्रेरणा मिलती है। जितना उदात्त और महान् लक्ष्य होगा, ज्ञान एवं विकास की सम्भावनाएँ उतनी ही अधिक होंगी। शिक्षण की सर्जनात्मक विधि बालक के लिये अधिक प्रेरक होती है, क्योंकि उसे अपनी कृति की पूर्णता में विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। शिक्षक का यह प्राथमिक कार्य है कि वह शिक्षण के परिवेश का इस प्रकार निर्माण करे कि बालक सीखने के लिये प्रेरित हो। विद्यार्थी के लिये यह अवस्था अधिक प्रेरक होती है जब शिक्षा के लक्ष्यों का निर्धारण उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप किया जाता है। प्रशंसा और मान्यता आदि से बालक अधिक सीखता है। विद्यार्थी के समक्ष ऐसी समस्याएँ और स्थितियाँ रखनी चाहिएं कि वह उनमें अपने अर्जित ज्ञान का उपयोग कर सके, सफलता का सन्तोष प्राप्त कर सके और इस प्रकार ज्ञान एवं प्रवीणता प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त हो सके। नवीन ज्ञान प्राप्त करने का रोमांच और उससे संतोष प्राप्त करना अपने–आप में उच्च ज्ञान प्राप्त करने के लिये शक्तिशाली प्रेरक तत्व है।

7. जिज्ञासा ज्ञानार्जन का आधार है

जिज्ञासा अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा ज्ञानार्जन का आधार है। बिना इच्छा एवं जिज्ञासा के ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। प्राचीन काल में भारत में गुरुकुल

---

1. Shri Aurovindo and the Mother on Education – page 27.

आश्रमों में प्रवेश प्रदान करने हेतु विद्यार्थी की ज्ञान–प्राप्ति की इच्छा की तीव्रता का परीक्षण होता था। यदि उसमें न्यूनता पायी जाती थी तो उसे प्रवेश हेतु समय देकर पुनः बुलाया जाता था। जिज्ञासु छात्र ही गुरु के पास ज्ञानार्जन के लिये जाते थे। ज्ञान–पिपासा ही शिक्षण का आधार था।

ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा बालक के विकास के स्तर पर निर्भर रहती है। बच्चे के शारीरिक, बौद्धिक और भावनात्मक विकास का स्तर ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है जो ज्ञान की सीमा भी बनती है और आधार भी। यदि बालक को उचित दिशा में अनुभव प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया जाय तो वह बड़ों के अनुमान से कहीं अधिक ज्ञानार्जन की क्षमता रखता है। विद्यार्थी को उसके विकास के स्तर तथा रुचि के अनुरूप अनुभव प्राप्त कराने के लिये बुद्धिमत्तापूर्ण योजना–निर्माण की तथा उसकी रुचियों और क्षमताओं को समझने के लिये विशिष्ट दृष्टि की आवश्यकता है। आजकल विद्यार्थियों की बढ़ती हुई संख्या के संदर्भ में ज्ञानार्जन की इच्छा का महत्व और भी अधिक हो जाता है। बहुत से बच्चे ऐसे परिवारों से आते हैं जहाँ अभिभावक शिक्षित नहीं होते। उनके पास वह पृष्ठभूमि नहीं होती कि वे अध्ययन–अध्यापन की प्रक्रिया में इच्छा और प्रेरणा से उस स्तर पर भाग ले सकें जिस स्तर पर शिक्षित परिवारों के बच्चे ले सकते हैं। इन विद्यार्थियों के लिये विशेष कक्षाओं का प्रबन्ध अनिवार्य है। जहाँ रुचिपूर्ण शिक्षण–विधि के द्वारा उनमें ज्ञानार्जन की इच्छा जाग्रत की जा सके।

8. शिक्षण के सूत्र

ज्ञानार्जन प्रक्रिया के कुछ मूलभूत सिद्धान्त हैं, जिन्हें उचित दृष्टिकोण और विधि अपनाने के लिये शिक्षक को ध्यान में रखना चाहिए। आधुनिक शिक्षा–शास्त्रियों ने भी इन पर बल दिया है। ये सूत्र रूप में निम्नांकित हैं–

1. सरल से कठिन की ओर
2. ज्ञात से अज्ञात की ओर
3. स्थूल से सूक्ष्म की ओर
4. विशेष से सामान्य की ओर
5. पूर्ण से अंश की ओर
6. विश्लेषण से संश्लेषण की ओर
7. आगमन से निगमन की ओर
8. मनोवैज्ञानिक से तर्कपरक की ओर

शिक्षण–पद्धति

शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि व्यवस्थित शिक्षाक्रम तथा मनोवैज्ञानिक शिक्षण–सिद्धान्तों पर आधारित उपयुक्त शिक्षण–पद्धति अपनायी जाय। शिक्षण–पद्धति में अन्तर पाठ्यवस्तु की प्रकृति एवं विद्यार्थी के स्तर पर निर्भर है। शिक्षण–पद्धति शिक्षा–दर्शन एवं सिद्धान्तों के क्रियान्वयन का चरण है। यदि पद्धति उपयुक्त नहीं है तो समस्त सिद्धान्त एवं आदर्श कोरे सिद्धान्त और आदर्श बने रह जाते हैं। अतः यह आवश्यक है कि **हम भारतीय शिक्षा–सिद्धान्तों, आदर्शों एवं शैक्षिक उद्देश्यों को साकार रूप देने वाली शिक्षण–पद्धति को अपनायें।** इसके लिये प्राचीन भारत की शिक्षण पद्धति एवं आधुनिक पद्धतियों में समन्वय करना होगा। प्राचीन पद्धति को आज के नवीन परिवेश में उसी रूप में नहीं लाया जा सकता और न प्राचीन के नाम पर उसे त्यागकर नवीन को पूर्णतः अपनाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में संस्कृत का निम्नलिखित सुभाषित प्रसिद्ध है–

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि सर्व नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।[1]

अर्थात् प्राचीन सब श्रेष्ठ नहीं होता और न नवीन पूर्णतः निर्दोष। बुद्धिमान लोग परीक्षण करने के पश्चात् स्वीकार करते हैं, परन्तु मूर्ख लोगों की बुद्धि पराश्रित होती है। अतः शिक्षकों को इस दृष्टिकोण के साथ शिक्षण–कार्य करना चाहिए तथा जिस प्रणाली में जो अच्छा हो, उसे अवश्य ग्रहण करना चाहिए। इसी आशय से हम यहाँ प्राचीन भारतीय शिक्षण–पद्धति एवं कुछ आधुनिक पद्धतियों का विवेचन करेंगे।

प्राचीन भारत में प्रयुक्त कुछ आदर्श शिक्षण–पद्धतियाँ

भारतीय शिक्षा के इतिहास के अनुशीलन से हमें विभिन्न प्रकार की शिक्षा–पद्धतियों का परिचय मिलता है। औपनिषदिक शिक्षण–पद्धति का स्वरूप निम्नलिखित श्लोक में भली प्रकार प्रकट होता है–

श्रवणं तु गुरोः पूर्व मननं तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येतत्पूर्णबोधस्यकारणम्।।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ज्ञानार्जन की श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन–इन तीन प्रक्रियाओं की व्याख्या मिलती है। श्रवण के द्वारा शिष्य गुरु के वचन (शब्द–अर्थ) को ध्यान पूर्वक सुनता था, मनन के द्वारा उनके वचन का बौद्धिक परिग्रहण करता था तथा निदिध्यासन के द्वारा उसकी साधनात्मक अनुभूति करता

---

1. कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्र'–1 / 2

था। इस प्रकार ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में शिक्षक की अपेक्षा शिष्य की चेष्टा ही प्रधान रहती थी। अपने स्वाध्याय के द्वारा ही वह गुरु के उपदेशों को हृदयंगम करता था। गुरु केवल उसे मार्गदर्शन करते थे। उत्तर वैदिक साहित्य में इस प्रणाली के अनेक दृष्टान्त हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में 'मन अन्नमय है, प्राण जलमय है। तथा वाक् तेजोमयी है'– इस तथ्य को समझाने के लिये श्वेतकेतु के पिता आरुणि उन्हें 15 दिन तक केवल जल पीकर रहने का निर्देश देते हैं ताकि इस अवधि में वे इस तथ्य का अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त करें। इसी प्रकार आत्मा तथा शरीर का सम्बन्ध बताने के लिये आरुणि श्वेतकेतु को वट–वृक्ष का एक फल तोड़कर लाने को कहते हैं। श्वेतकेतु इस फल के बीजों का निरीक्षण करता है। पिता इसके द्वारा आत्मा अथवा सत्य की व्यापकता बताते हैं।

उपनिषद् साहित्य में शिक्षण की एक विशिष्ट शैली का परिचय भी हमें मिलता है। प्रश्नोत्तर (Catechetical) प्रणाली की उद्भावना सर्वप्रथम उपनिषद् साहित्य ने की। इस प्रणाली के द्वारा गूढ़ आध्यात्मिक तत्वों का स्पष्टीकरण बड़े ही रोचक ढ़ंग से किया गया है। इस प्रणाली में मौखिक शिक्षा के सभी उपादेय उपादानों जैसे–दृष्टान्त, कथा, कहानी, जीवनवृत्त आदि का प्रयोग होता था। यूनान के प्रसिद्ध विद्वान सुकरात की शिक्षण–शैली भी यही थी। श्रीमद्भगवद् गीता के चतुर्थ अध्याय के 34वें श्लोक में भी प्रश्न के द्वारा ज्ञान–प्राप्ति का वर्णन किया गया है–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः।।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं– "भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम् तथा सेवा और निष्कपट भाव से किये हुए प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को प्राप्त कर, वे मर्म को जानने वाले ज्ञानी जन तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।"

स्मृति–चन्द्रिका में ज्ञानार्जन के निम्नांकित अंग वर्णित हैं[1]–

1. शुश्रुषा
2. श्रवणम्
3. ग्रहणम्
4. धारणम्
5. ऊहापोहः
6. अर्थविज्ञानम्
7. तत्वज्ञानम्

श्रवण, ग्रहण तथा मनन के अतिरिक्त शंका–समाधान, तर्क–वितर्क, प्रयोग

1. R.K. Mookerji – Ancient Indian Education – p. 196.

आदि भी ज्ञानार्जन के अंग माने गये हैं। साधना अथवा निदिध्यासन के द्वारा तत्वज्ञान की उपलब्धि का निर्देश भी है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार तत्वज्ञान की उपलब्धि के पाँच चरण हैं[1]–

अध्ययन – शब्द–श्रवण

शब्द – श्रुत शब्द का अर्थग्रहण

ऊह – तर्क तथा सामान्यीकरण

सुहृत् प्राप्ति – मित्र अथवा शिक्षक का अनुमोदन

दान – प्रयोग तथा व्यवहार

आधुनिक शिक्षाशास्त्री ड्यूई के द्वारा प्रतिपादित ज्ञानार्जन के तीन अंग इन पाँच चरणों से बहुत समानता रखते हैं–

अध्ययन, शब्द) A Problem and its location

ऊह, सुहृत् प्राप्ति, दान) Suggested solutions and the selection of a solution Action (Application)

ज्ञानार्जन की उपर्युक्त प्रक्रियाओं का निचोड़ मनु ने भी उपस्थित किया है। "ज्ञान की प्राप्ति चार रूपों में होती है। किसी तत्वज्ञान का पहला चतुर्थभाग छात्र शिक्षक से ग्रहण करता है, दूसरा चतुर्थ भाग अपनी बुद्धि से प्राप्त करता है, तीसरा भाग अपने मित्र तथा सहपाठियों से और चौथा भाग अपने अनुभव से प्राप्त करता है।"[2]

उपनिषदों में प्रयुक्त कथा–कथन तथा प्रश्नोत्तर की रोचक शैलियों का व्यवहार बाद में भी शिक्षण–कार्य में होता रहा। पंचतंत्र तथा हितोपदेश इस शैली के प्रतीक हैं। वाद–विवाद तथा शास्त्रार्थ की प्राचीन पद्धति आज भी परिचर्चा–पद्धति (सेमिनार्स) के रूप में प्रचलित हैं। **प्राचीन भारत के विद्यालयों में उपगुरु (मौनीटोरियल) प्रणाली भी प्रचलित थी।** अनुभवी तथा सुयोग्य छात्र शिक्षण–कार्य में शिक्षक की सहायता बराबर करते थे। तक्षशिला जैसे सुप्रसिद्ध शिक्षा–केन्द्र में भी यह प्रथा पूर्णतः प्रचलित थी। बौद्ध शिक्षा–केन्द्रों में भी यह प्रणाली व्यवहार में लायी जाती थी। ईसवी शती 7वीं में इत्सिंग ने वल्लभी में कई छात्रों को अपने से छोटे छात्रों को शिक्षा देते हुए देखा था। पुराने तथा अनुभवी छात्र शिक्षक के समान ही आदरणीय थे। उपगुरु प्रणाली की उपादेयता आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों ने भी स्वीकार की है। भारत के

---

1. R.K. Mookerji – Ancient Indian Education – p. 196.
2. मनु–2 / 208

उदाहरण पर पाश्चात्य देशों में भी इस प्रणाली को अपनाने की संस्तुति की गयी है। इस प्रथा के द्वारा सुयोग्य छात्रों को आत्म–विश्वास की एक बलवती प्रेरणा प्राप्त होती है, साथ ही शिक्षक को एक विश्वासपात्र सहायक बिना किसी व्यव के ही उपलब्ध हो जाता है। आधुनिक भारत में यह प्रथा आज भी अनुकरणीय है।

अन्त में एक बात उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारतीय शिक्षण–प्रणाली में व्यक्तिगत शिक्षण प्रचलित था। शिक्षक छात्र के विकास की ओर व्यक्तिशः ध्यान देते थे। आजकल भी व्यक्तिगत शिक्षण की विशेषता की ओर लोगों का ध्यान जा रहा है और शिक्षाविद् छात्रों की ओर व्यक्तिगत ध्यान देने के लिये आग्रह करते हैं।

पश्चिमी देशों में प्रचलित प्रमुख शिक्षण–पद्धतियाँ

हरबार्टीय पंचपदी

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हरबार्ट के सिद्धान्तों के आधार पर उनके शिष्यों ने हरबार्टीय पंचपदी का विकास पाठ की योजना बनाने के लिये किया है। ये पाँच पद हैं–

1. प्रस्तावना, 2. विषयोपस्थापन, 3. तुलना, 4. सामान्यीकरण, 5. प्रयोग।

1. प्रस्तावना – प्रस्तावना में छात्र के पूर्वार्जित ज्ञान के आधार पर उसे नये ज्ञान के तट पर लाकर पहुँचा दिया जाता है। प्रस्तावना पिछले पाठ की पुनरावृत्ति द्वारा भी हो सकती है। प्रसंग का वर्णन करके भी प्रस्तावना की जा सकती है। आजकल प्रश्नों के द्वारा प्रस्तावना अच्छी मानी जाती है।

2. विषयोपस्थापन – इसका अर्थ है पाठ प्रस्तुत करना। भाषा या साहित्य के पाठ में तो शिक्षक और छात्रों द्वारा पाठ का वाचन ही विषयोपस्थापन है। विज्ञान, अर्थशास्त्र, गणित आदि विषयों में सिद्धान्त–प्रतिपादन ही पाठ का उद्देश्य होता है। वहाँ पहले उदाहरण देकर सिद्धान्त निकलवाया जाता है या छात्र के अनुभव को उद्दीप्त करके उसके सहारे नया ज्ञान दिया जाता है। पूरे पाठ को छोटी–छोटी अन्वितियों में बाँट लिया जाता है। प्रत्येक अन्विति को प्रस्तावना के पश्चात् छात्रों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

3. साहचर्य या तुलना – प्रस्तुत किये हुए ज्ञान की तुलना बालक के संचित ज्ञान से की जाती है तथा अन्य विषयों से उसका साहचर्य स्थापित करा दिया जाता है।

4. सामान्यीकरण – तुलना और साहचर्य स्थापित हो चुकने के पश्चात् छात्र स्वयं कुछ सामान्य सिद्धान्तों का दर्शन करते हैं। यह सिद्धान्त, नियम या परिभाषा

अत्यन्त संक्षिप्त और स्पष्ट होनी चाहिए तथा स्वयं छात्रों द्वारा ही प्रतिपादित होनी चाहिए।

5. प्रयोग – सामान्य सिद्धान्त का निर्धारण कर लेने के पश्चात् यह आवश्यक हो जाता है कि छात्र नवार्जित ज्ञान का प्रयोग करें। प्रयोग के लिये कुछ अभ्यास–कार्य, कक्षा–कार्य एवं गृहकार्य के रूप में दिया जाता है।

हरबार्टीय पंचपदी यद्यपि मनोविज्ञान के सिद्धान्तों पर आधारित है, तो भी यह पद्धति सभी प्रकार के विषयों में प्रयुक्त नहीं हो सकती। विज्ञान–शिक्षण में यह असफल सिद्ध हुई है। भाषा–शिक्षण में भी सभी प्रकार के पाठों में इसका प्रयोग नहीं हो सकता। फिर भी यह पद्धति आवश्यक संशोधन करके उपयोग में लायी जा सकती है।

योजना प्रणाली

योजना या 'प्रोजेक्ट' प्रणाली का विकास विलियम किलपेट्रिक ने किया था। उस पर जॉन ड्यूई का विशेष प्रभाव था। उसके अनुसार 'प्रोजेक्ट' वह महत्वपूर्ण अभिप्राययुक्त क्रिया है जो पूर्ण संलग्नता के साथ सामाजिक वातावरण में की जाती है। इस प्रणाली के प्रयोग करने में कुछ आवश्यक चरणों का अनुसरण किया जा सकता है जो इस प्रकार है–

1. परिस्थिति उत्पन्न करना
2. योजना का चयन
3. उद्देश्य–निरुपण
4. योजना का कार्यक्रम
5. योजना का क्रियान्वयन
6. कार्य का मूल्यांकन
7. कार्य का लेखा

योजना का वर्गीकरण चार भागों में किया जाता है–

1. अभ्यासात्मक – इसका ध्येय छात्रों में क्षमताओं एवं कुशलताओं का विकास करना है। इसमें मानचित्र बनाना, ग्राफ या रेखाचित्र आदि बनाने के कार्य करने होते हैं।

2. रचनात्मक या उत्पादनात्मक – इसमें कार्य की रचना भौतिक रूप में की जाती है, जैसे – कुआँ खोदना, मॉडल आदि बनाना।

3. अनुभवात्मक – इसका ध्येय अनुभूति की प्राप्ति होता है, जैसे– कविता, संगीत, कहानी आदि सुनना तथा सुनाना।

4. समस्यात्मक – इसका उद्देश्य किसी बौद्धिक समस्या का समाधान करना होता है, जैसे – सूर्यग्रहण क्यों होता है? भारतीय किसान निर्धन क्यों हैं? आदि।

योजना–पद्धति अनेक दृष्टियों से अच्छी पद्धति है। इसके द्वारा विद्यालय के जीवन को जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से सम्बन्धित किया जाता है। इसमें छात्र स्वक्रिया द्वारा ज्ञानार्जन करते हैं तथा श्रम के प्रति छात्रों में आदरभाव जाग्रत होता है। किन्तु यह पद्धति व्यय एवं समय साध्य है। इसके द्वारा ज्ञान को खण्डों में विभाजित करके प्रदान किया जाता है तथा उसमें कोई तारतम्य नहीं होता। इन दोषों को दूर करके इस पद्धति का प्रयोग कुछ विषयों के शिक्षण में करना उपयोगी है।

इकाई पद्धति

इकाई पद्धति का प्रयोग अमेरिका में पर्याप्त किया जा रहा है। इसके प्रवर्तक श्री हेनरी सी. मौरीसन हैं। इस पद्धति का जन्म 'गेस्टाल्ट मनोविज्ञान' के परिणाम–स्वरूप हुआ है। हेनरी मौरीसन ने प्रत्येक इकाई के पाँच पद हरबार्ट के पांच सोपानों की भांति ही निश्चित किए हैं। परन्तु इसमें अन्तर इतना है कि हरबार्ट के सोपानों में शिक्षक प्रधान हैं और मौरीसन के पदों में बालक प्रधान हैं। ये पद हैं–

1. अनुसन्धान
2. प्रस्तुतिकरण
3. आत्मीकरण
4. लेखा
5. अभिव्यक्तिकरण

इकाई पद्धति इस मौलिक धारणा पर अवलम्बित है कि वास्तविक ज्ञान शिक्षार्थी की प्रवृत्ति के परिवर्तन के रूप में अर्थात् किसी योग्यता या कौशल के रूप में अभिव्यक्त होता है। इस प्रणाली का प्रयोग गणित, व्याकरण तथा विज्ञान की शिक्षा में किया जा सकता है। अनुभूति के पाठों में इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता।

किंडरगार्टन पद्धति

किंडरगार्टन पद्धति के प्रवर्तक जर्मनी के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री फ्रोवेल हैं। किंडरगार्टन प्रणाली में 'फ्रोबेल के उपहार' प्रसिद्ध हैं। इन उपहारों की संख्या 20 है जो गोलाकार, बेलनाकार, और घन की आकृतियों में विभिनन रंगों के होते हैं। बालक इन उपहारों की सहायता से खेल–खेल में रचनात्मक कार्यों की ओर प्रवृत्त होता है। उपहारों के साथ बालक को अभ्यास–कार्य के लिये बालू, मिट्टी, लकड़ी तथा अन्य सामग्री दी जाती है। इनसे बालक गोलियाँ, कागज की कटाई आदि हस्तकौशल के कार्य करता है। कार्य के साथ ही कहानियाँ, संगीत आदि में भी बालक लगे रहते हैं जिससे कार्य में रुचि का अभाव उत्पन्न न हो। फ्रोबेल के अनुसार बालक तीन मार्गों से अभिव्यक्ति करता है – (1) गाकर, (2) गति के द्वारा,

(3) रचना के द्वारा। इसीलिये किंडरगार्टन पद्धति में गीत, गति और रचना को बहुत महत्व दिया है।

मोण्टेसरी–पद्धति

इटली की डा. मेरिया मोण्टेसरी ने छोटे बालकों की शिक्षण–पद्धति मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रचलित की, जो उन्हीं के नाम पर मोण्टेसरी पद्धति के नाम से प्रसिद्ध हुई। किंडरगार्टन के मूल सिद्धान्तों में परिवर्तन करके मोण्टेसरी पद्धति विकसित की गयी।

यद्यपि मोण्टेसरी पद्धति में बालकों के लिये कोई बँधा हुआ पाठ्यक्रम नहीं है, फिर भी शिक्षाक्रम को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है –

(1) कर्मेन्द्रियों की शिक्षा – इसके लिये मोण्टेसरी विद्यालय में घर का वातावरण बनाया जाता है। वहाँ कपड़े, बिस्तर, बर्तन, फर्नीचर, भोजन–कक्ष आदि की व्यवस्था होती है और उनके माध्यम से दैनिक जीवन के कार्य उन्हें कुशलता से कराये जाते हैं।

(2) ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा – इसके लिये मोण्टेसरी के अपने उपकरण निश्चित हैं। उनके माध्यम से ज्ञानेन्द्रियों का विकास किया जाता है। गट्टापेटी, रंगीन रुमाल, खुरदरे और चिकने कागज आदि सामग्री इसके लिये उपयोग में लायी जाती हैं।

(3) भाषा–शिक्षण – मोण्टेसरी पद्धति में भाषा–शिक्षण लिखने से आरम्भ होता है। इससे बालक को गति का अवसर मिलता है। उनके सिद्धान्त के अनुसार पढ़ने का समन्वय मानसिक विकास से है, जबकि लिखने में केवल अनुकरण की आवश्यकता होती है। लेखनी पकड़ने का अभ्यास, अक्षरों का स्वरूप समझना और फिर ध्वनि का उच्चारण कराया जाता है।

डाल्टन पद्धति

डाल्टन–पद्धति की रचना का श्रेय प्रसिद्ध अमेरिकी शिक्षाविद् कुमारी हेलन पार्खार्स्ट को दिया जाता है। इस पद्धति का आरम्भ अमरीका के डाल्टन नगर में हुआ, अतः इसका नाम डाल्टन–पद्धति पड़ा। यह डाल्टन–योजना के नाम से अधिक प्रसिद्ध है।

डाल्टन–पद्धति की निम्नलिखित कार्यप्रणाली है–

(1) ठेका या काण्ट्रैक्ट – इस पद्धति का मुख्य आधार एक ठेका (असाइनमेंट) होता है। पूरे वर्ष के कार्य को वार्षिक ठेका कहते हैं। उसे दस भागों में बाँटते हैं, क्योंकि वर्ष के दस मास शिक्षण के होते हैं। विद्यार्थी अपने अध्ययन कार्य

को ठेके के रूप में ग्रहण करते हैं। प्रत्येक विद्यार्थी अपनी गति से कार्य करता है। उसको अगले मास का कार्य तब तक नहीं दिया जाता, जब तक कि वह मास के लिये निर्दिष्ट सभी विषयों के कार्य को पूरा नहीं कर लेता।

(2) वर्ग–कक्षाओं के स्थान पर विषय–प्रयोगशालाएँ – इस योजना के अनुसार कक्षाओं को समाप्त कर दिया गया है और उनके स्थान पर भिन्न–भिन्न विषयों की प्रयोगशालाएँ होती हैं। इन प्रयोगशालाओं में अपने–अपने विषय के समस्त उपकरण–पुस्तकें, पत्र–पत्रिकाएँ, चित्र, मानचित्र, रेखाचित्र तथा मूर्तियाँ इत्यादि रखे रहते हैं। विभिन्न कक्षाओं के बालक जिस विषय के कार्य को पूरा करना चाहते हैं, उस विषय की प्रयोगशाला में जाकर अध्ययन करते हैं। उन्हें पूरी स्वतन्त्रता होती है कि वे किसी भी प्रयोगशाला में जायें और जितना समय चाहें, वहाँ अध्ययन करें। वहाँ समय–विभाग–चक्र नाम की कोई वस्तु नहीं होती और न घण्टे बदलने के लिये घंटियाँ ही बजती हैं।

(3) वर्ग–सम्मेलन – विद्यार्थियों को केवल अपने प्रयास पर ही नहीं छोड़ दिया जाता। वे सप्ताह में दो–तीन बार विषय–प्रयोगशालाओं में एकत्रित होते हैं और विषय–अध्यापक के निर्देशन में समस्या पर सामूहिक रूप से चर्चाएँ होती हैं। विद्यार्थी अपने अनुभव सुनाते हैं और आवश्यकता पड़ने पर अध्यापक व्याख्यान भी देते हैं।

(4) प्रगति का लेखा – 'ग्रॉफ पेपर' पर विद्यार्थियों की प्रगति का लेखा रखा जाता है। एक लेखा विद्यार्थी अपने पास रखता है जिससे उसे पता रहे कि कितना कार्य कर चुका है। दूसरा लेखा अध्यापक के पास प्रयोगशाला में रहता है। विद्यालय में विद्यार्थियों की उपस्थिति का लेखा भी रखा जाता है।

अर्वाचीन भारत में प्रायोगिक शिक्षण–पद्धतियाँ

बुनियादी शिक्षा–पद्धति

महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित वर्धा शिक्षा–योजना 'बुनियादी शिक्षा' या 'बेसिक शिक्षा' के नाम से प्रसिद्ध है। इस शिक्षा–पद्धति की मुख्य विशेषता हस्तकौशल के माध्यम से शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आत्मिक, अर्थात् बालक को सम्पूर्ण शिक्षा प्रदान करना है। 'बुनियादी' शिक्षा में नीरस पुस्तकीय ज्ञान के स्थान पर मूल उद्योग के द्वारा उपयोगी और सरस शिक्षा दी जाती है। गांधी जी के शब्दों में "मुख्य विचार शरीर, मस्तिष्क और आत्मा की सम्पूर्ण शिक्षा हस्तकौशल के द्वारा देने का है जो कि बालक को सिखाया जाता है। आपको हस्तकौशल की समस्त प्रक्रिया सिखाते समय बालक में जो कुछ है, उस सबको अभिव्यक्त करना है और आपके

इतिहास, भूगोल तथा गणित के सब पाठ हस्तकौशल से सम्बन्धित होंगे।" उदाहरण के लिये, तकली से कताई सीखने के समय कपास की किस्में, भारतीय प्रान्तों में उसके लिये उपयुक्त भूमि, इस उद्योग के ह्रास का इतिहास, इसके राजनीतिक कारण, कपास की नाप–तौल का लेखा–जोखा रखने से गणित, उसका विवरण लिखने और उस पर चर्चा करने से भाषा–शिक्षण, मिलकर कार्य करना, स्वच्छता, ग्राम की भलाई आदि की शिक्षा प्राप्त की जायेगी। इस प्रकार तकली कातने के माध्यम से भूगोल, इतिहास, गणित, भाषा, नागरिकशास्त्र, नैतिक शिक्षा आदि सभी आवश्यक विषयों की शिक्षा बालक प्राप्त करेगा।

बुनियादी शिक्षा–पद्धति में भारत की 80 प्रतिशत जनसंख्या खेतिहर और 10 प्रतिशत औद्योगिक श्रमिक हैं, इसका विचवार किया गया है। कृषि अथवा उद्योग के शिक्षण एवं श्रम पर आधारित शिक्षा ही भारतीय शिक्षा–पद्धति हो सकती है। इसी बात का गांधीजी ने विचार किया था। बाद में इसकी उस मूल भावना पर विचार नहीं किया गया और परिणामतः यह पद्धति असफल हुई।

शान्तिनिकेतन शिक्षा–पद्धति

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शान्तिनिकेतन में शिष्यों और गुरुओं के परस्पर घनिष्ठ आध्यात्मिक सम्बन्ध, प्रकृति की गोद, स्वतन्त्रता का वातावरण एवं सांस्कृतिक परिवेश के माध्यम से नवीन शिक्षा–पद्धति का प्रयोग किया। रवीन्द्रनाथ ने 5–7 ग्रामीण विद्यार्थियों को लेकर 'शिक्षा–सत्र' नाम से भी एक प्रयोग प्रारंभ किया। सभी विद्यार्थी एक ही गृह (मकान) में रहते थे। वे स्वयं ही अपना भोजन बनाते, बर्तन, कपड़े और गृह की स्वच्छता आदि कार्य करते थे। प्रातःकाल दरी आदि बुनने का तथा बागवानी का काम करते और सायंकाल सामूहिक बैठकर अध्यापक से महाभारत आदि की कहानियाँ सुनते और दिन–भर के कार्य–विवरण अपने हाथ से लिखते थे। सप्ताह में एक बार खेतों में, कारखानों में जाते और नयी–नयी वनस्पतियों, पशुओं और यन्त्रों से परिचय बढ़ाते थे।

स्वास्थ्य के विकास की दृष्टि से खाने–पीने, सोने–जागने और व्यायाम आदि की अच्छी आदतें सिखायी गयीं, जिससे ग्रामीण बालकों का स्वास्थ्य चमक उठा। बागवानी, दरी बुनना, रंगना, भवन–निर्माण (मकान बनाना), मिट्टी के बर्तन बनाना, चित्रकला, नाटक, संगीत, नृत्य आदि की व्यावहारिक शिक्षा के द्वारा उनका मानसिक, सौन्दर्यात्मक एवं आत्मिक विकास होता था। शिक्षा–सत्र में कोई निश्चित कक्षा, कमरे, समय–सारिणी आदि नहीं थे। स्वतन्त्रता एवं प्रकृति के वातावरण में ही शिक्षण–कार्य चलता था।

अनेक कारणों से और सरकारी आर्थिक सहायता लेने के पश्चात् तथा विशेष

रूप से केन्द्रीय विश्वविद्यालय बनने के पश्चात् शान्तिनिकेतन का जो रूप बन गया, वह रवीन्द्रनाथ की कल्पना नहीं थी।

गुरुकुल एवं दयानन्द एंग्लो–वैदिक विद्यालय

स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से विभिन्न स्थानों पर दयानन्द एंग्लो–वैदिक विद्यालयों की स्थापना हुई। सबसे प्रथम विद्यालय लाहौर में आरम्भ हुआ। कांगड़ी एवं वृन्दावन में गुरुकुल आरम्भ हुए। कन्याओं के लिये पृथक् गुरुकुल देहरादून, बड़ौदा तथा सासनी में स्थापित हुए। इन गुरुकुलों एवं दयानन्द एंग्लो–वैदिक विद्यालयों की शिक्षा–प्रणाली से देश में एक नवीन चेतना का जागरण हुआ।

गुरुकुलों की शिक्षा–पद्धति प्राचीन गुरुकुल शिक्षा–पद्धति पर ही आधारित थी। ब्रह्मचर्य का पालन, नित्यकर्म का पालन, धर्म–शिक्षा, संस्कृत भाषा एवं साहित्य का अध्ययन आदि इसकी प्रमुख विशेषताएँ थीं। दयानन्द एंग्लो–वैदिक विद्यालयों की शिक्षा–पद्धति में प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति एवं नवीन अंग्रेजी शिक्षा का समन्वय किया गया था। इन विद्यालयों में भी धर्म–शिक्षा, दैनिक यज्ञ, संस्कृत–शिक्षण एवं शिक्षकों के प्रति आदरभाव आदि प्राचीन पद्धतियाँ मुख्य आधार थीं। दयानन्द जी ने स्त्री–शिक्षा पर पुरुषों की शिक्षा के समान ही बल दिया।

श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी की शिक्षा–पद्धति

श्री अरविन्द के शिक्षा–दर्शन पर आधारित 'श्री अरविन्द अन्तरराष्ट्रीय 'शिक्षा–केन्द्र' के नाम से संस्था श्री माँ ने स्थापित की। इस संस्था की शिक्षा–पद्धति 'प्रगतिशील शिक्षा' (प्रोग्रेसिव एज्यूकेशन) के नाम से जानी जाती है। इस पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) इस शिक्षा–पद्धति में परीक्षा और प्रमाणपत्र या 'डिग्री' देने की कोई व्यवस्था नहीं है। अरविन्द आश्रम की शिक्षा का उद्देश्य नौकरी या व्यवसाय के लिये ऐसे बालक तैयार करना नहीं है जो व्यवसाय या नौकरी के लिये आवश्यक 'डिग्री' के लिये शिक्षा प्राप्त करते हैं। यहाँ ऐसे बालक ही शिक्षा प्राप्त करने आते हैं जिनके जीवन की प्रेरणा पूर्णता एवं ज्ञान प्राप्त करना है–शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, चैत्य एवं आध्यात्मिक विकास के द्वारा जीवन की पूर्णता प्राप्त करना है।

(2) यहां के छात्र चार–पाँच भाषाओं का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। भाषा के शिक्षक कक्षा में और कक्षा के बाहर उसी भाषा में छात्रों से वार्ता करते हैं जिस भाषा के वे शिक्षक हैं। इस प्रकार विभिन्न भाषाओं का प्रयोग करने का सहज अवसर उन्हें प्राप्त होता है जो भाषा–शिक्षण की मूल पद्धति है। फ्रेंच, अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, तमिल – ये पाँच भाषाएँ यहाँ के प्रायः सभी बालक जानते हैं।

(3) शारीरिक विकास–हेतु प्रतिदिन चार घंटे छात्र खेल के मैदान में – दो घंटे प्रातः और दो घंटे सायंकाल – नित्य समय देते हैं। परिणामतः खेल और व्यायाम के दैनिक अभ्यास से इनका स्वास्थ्य सदैव चमकता रहता है।

(4) आध्यात्मिक शिक्षा के लिये आध्यात्मिक अभीप्सा जाग्रत कर वह ध्यान–योग के अभ्यास, संस्कारक्षम भावपूर्ण प्रार्थना–सभा के दैनिक कार्यक्रम के माध्यम से प्रदान की जाती है।

(5) ललित कलाओं के माध्यम से प्राणिक विकास की व्यवस्था है। चित्रकला, मूर्तिकला, पेन्टिंग, फोटोग्राफी, संगीत, नृत्य, नाट्यकला आदि विभिन्न कलाओं को छात्र अपनी रुचि के अनुसार सीखते हैं।

(6) अरविन्द आश्रम के विद्यालय में कक्षा की व्यवस्था नहीं है। वहाँ जिस विषय में जिस कक्षा के स्तर योग्य छात्र होता है, उस विषय की कक्षा में शिक्षण प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ एक ही छात्र गणित विषय में कक्षा 8 में पढ़ता है, अंग्रेजी में 9 में एवं हिन्दी विषय में कक्षा 7 में अध्ययन करता है। इस प्रकार किसी एक विषय में पीछे रहने पर उसके अन्य विषयों के ज्ञानार्जन की प्रगति में बाधा नहीं पड़ती।

(7) अरविन्द आश्रम में आश्रमवासी ही शिक्षक होते हैं जो अवैतनिक कार्य करते हैं। शिक्षकों की संख्या भी अधिक है। 600 छात्र एवं 200 अध्यापक हैं। यह अनुपात अन्यत्र व्यावहारिक नहीं है।

(8) अरविन्द आश्रम शिक्षा–केन्द्र में स्व–प्रेरणा से अध्ययन की प्रवृत्ति छात्रों में विकसित होती है। यदि एक वाक्य में इसकी विशेषता बतानी हो तो कहा जा सकता है कि अरविन्द आश्रम में बालक पढ़ते हैं, अन्य विद्यालयों में पढ़ाये जाते हैं। सम्पूर्ण शिक्षा–संस्थान के परिवेश में छात्रों की क्रियाशीलता स्पष्ट देखी जा सकती है। परिणामतः यहाँ के छात्र–छात्राओं का शैक्षिक स्तर एवं जीवन का विकास पर्याप्त ऊँचा होता है।

'सरस्वती शिशु मन्दिर' शिक्षण–पद्धति

सरस्वती शिशु मन्दिर का आरंभ 1952 में उत्तर प्रदेश के गोरखपुर नगर में हुआ। सरस्वती शिशु मन्दिर की अभिनव शिक्षण–पद्धति ने अल्प अवधि में ही समाज में इतना आकर्षण एवं प्रभाव उत्पन्न कर दिया कि आज इस पद्धति पर चलने वाले हज़ारों शिशु–मन्दिर संपूर्ण भारत में हैं तथा देश के प्रत्येक प्रदेश में, जम्मू–कश्मीर से लेकर केरल–तमिलनाडु तक एवं मणिपुर–आसाम से लेकर गुजरात–काठियावाड़ तक, सरस्वती शिशु मन्दिरों का जाल बिछ गया है। बाल–शिक्षा–जगत् में सरस्वती शिशु मन्दिर शिक्षण–पद्धति को प्रतिष्ठा प्राप्त है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) भारतीय संस्कृति एवं जीवनादर्शनों के अनुरूप संस्कार पद्धति के माध्यम से शिशु का सर्वांगीण विकास करना शिशु–मंदिर की शिक्षा–पद्धति की प्रमुख विशेषता है।

(2) यहाँ के शिक्षक 'आचार्य' कहलाते हैं। बालक 'आचार्य' शब्द से ही अपने अध्यापकों को सम्बोधित करते हैं। **आचार्य अर्थात् जो अपने आचरण से बालकों को शिक्षा प्रदान करते हैं।** आचार्य भारतीय वेश– धोती, कुर्ता, धारण करते हैं। बच्चों के प्रति प्रेम एवं आत्मीयतापूर्ण व्यवहार करते हैं। परिणामतः बच्चों में भी अपने आचार्यों के प्रति आदर एवं प्रेम की भावना होती है। गुरु–शिष्य की प्राचीन भारतीय परंपरा का आत्मीय रूप शिशु–मन्दिरों में दिखायी पड़ता है।

(3) भारतीय मनोविज्ञान के संस्कार–सिद्धान्त पर आधारित करके यहाँ के संपूर्ण शैक्षिक क्रियाकलापों की योजना की जाती है। शिशु–मंदिर का वातावरण पूर्ण संस्कारक्षम होता है। वातावरण स्वच्छता, व्यवस्थितता, पवित्रता एवं आत्मीयता से परिपूर्ण रहता है। इस वातावरण में बालक का मानसिक, सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास सहज संस्कारों के द्वारा होता है।

(4) शिशु–मन्दिर के आचार्यगण विद्यालय में तो संस्कारक्षम वातावरण निर्मित करने का प्रयास करते ही हैं, परन्तु साथ ही घरों और परिवारों में भी उसी प्रकार का संस्कारक्षम वातावरण बालकों को प्राप्त हो, इसके लिये प्रयास करते हैं। आचार्य घरों पर जाकर अभिभावकों से सम्पर्क स्थापित करते हैं। उनसे बालक के विकास की स्थिति के विषय में विचारों का आदान–प्रदान करते हैं तथा घरों पर उनके विकास के लिये संस्कारक्षम वातावरण निर्मित करने के सम्बन्ध में परामर्श देते हैं। शिशु–मन्दिर में आचार्यों द्वारा अभिभावक–सम्पर्क बालक के विकास में अत्यधिक प्रभावी बनता है। समय–समय पर मातृ–सम्मेलन एवं अभिभावकों के सम्मेलन आयोजित किये जाते हैं। इन सम्मेलनों में भी उक्त विषयों पर परिचर्चाएँ की जाती हैं।

(5) बालक अपने घरों से दोपहर का भोजन या अल्पाहार साथ में लाते हैं और शिशु–मन्दिर में दैनिक सामूहिक भोजन मन्त्रों सहित करते हैं। जाति–पाँति की भावना नष्ट होकर परस्पर प्रेम और समानता एवं एकता की भावना का हृदय में गहरा संस्कार करने का यह भोजन–कार्यक्रम सबल साधन सिद्ध होता है।

(6) शिविरों के आयोजन शिशु–मन्दिर शिक्षण–पद्धति के अभिन्न अंग हैं। प्रायः प्रतिवर्ष बच्चे दो–तीन दिन के लिये घर से बाहर शिविर–जीवन व्यतीत करते हैं। इसके द्वारा उनके अन्दर क्रियाशीलता, स्वावलम्बन, सामूहिकता आदि जीवन के गुणों का विकास सहज रूप से होता है।

(7) छोटे–छोटे बच्चों में योगासन एवं ध्यान के अभ्यास से एकाग्रता के गुण

का विकास किया जाता है। अग्निचक्र के भीतर कूदना, रस्से पर सन्तुलन बनाकर चलना, बन्दूक से लक्ष्य–बेध (निशाना लगाना) आदि विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से साहस, वीरता, निर्भयता आदि गुणों का विकास किया जाता है।

(8) शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् शिशु–मन्दिर छोड़कर जाने वाले बालकों से भी स्थायी सम्पर्क बनाये रखने की इन विद्यालयों में व्यवस्था है। पत्र–व्यवहार एवं पुरातन छात्र सम्मेलन आदि कार्यक्रमों के माध्यम से उनसे सम्पर्क बनाये रखकर उनके संस्कारों को सतत् जाग्रत रखने के लिए प्रयास चलता रहता है। शिशु–मन्दिर के शिक्षित छात्रों के जीवन में भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धा, देशभक्ति, प्रामाणिकता, शिष्टता, माता–पिता एवं बड़ों के प्रति आदर–भाव आदि नैतिक गुण स्पष्ट अनुभव किये जाते हैं।

सरस्वती विद्या–मन्दिरों की अभिनव पंचपदी शिक्षण–पद्धति

देश में विद्या भारती से सम्बन्धित अनेक विद्या–मन्दिर चलते हैं। इन विद्या–मन्दिरों ने प्राचीन एवं अर्वाचीन शिक्षण–पद्धतियों के समन्वित आधार पर 'अभिनव पंचपदी शिक्षण–पद्धति' का विकास किया है। इन पद्धति के पाँच पद निम्नांकित हैं–

1. अधीति
2. बोध
3. अभ्यास
4. प्रयोग
5. प्रसार

1. अधीति

इस प्रथम पद में अध्यापक विषय–वस्तु को छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। अध्यापक नवीन विषय को छात्रों के पूर्व–ज्ञान से जोड़कर प्रस्तुत करते हैं। छात्र अपने अध्यापक के सहयोग से इस प्रस्तुत विषय–वस्तु की जानकारी प्राप्त करते हैं एवं उसका अध्ययन करते हैं। विषय की प्रकृति के अनुरूप पद्धति अपनाकर अर्थात् अध्यापक के कथन को श्रवण कर, प्रश्नोत्तर, वाचन, प्रयोग आदि के माध्यम से छात्र विषय–वस्तु से सम्बन्धित तथ्यों एवं सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त करते हैं।

2. बोध

इस द्वितीय चरण में छात्र विषय वस्तु के मूल सिद्धान्त या तत्त्व को समझने

का प्रयास करते हैं। मनन, पुनरावृत्ति, प्रश्नोत्तर कक्षा में स्वयं उसका पुनः अभ्यास करके, अथवा प्रयोग करके बोध प्राप्त करते हैं। अध्यापक भी प्रश्न पूछकर अथवा निरीक्षण के द्वारा यह जानने का प्रयास करते हैं कि छात्रों ने पाठ्य–वस्तु के मूल तत्त्व को ग्रहण किया है अथवा नहीं, तथा आवश्यकता के अनुसार उनकी सहायता करते हैं।

3. अभ्यास

तृतीय चरण में छात्र अर्जित ज्ञान का अभ्यास करते हैं एवं उसमें परिपक्वता प्राप्त करते हैं। विभिन्न प्रकार से किये गये अभ्यास के द्वारा ही अर्जित ज्ञान चित्त में स्मृति–संस्कार के रूप में स्थायी बनता है। अध्यापक इसी दृष्टि से छात्रों को गृह–कार्य अथवा अभ्यास–कार्य देते हैं। छात्रों द्वारा किये हुए अभ्यास–कार्य का निरीक्षण अध्यापकों द्वारा किया जाना आवश्यक है जिससे छात्रों की त्रुटियों या भूलों में सुधार किया जा सके। अभ्यास–कार्य का रूप विविध, रुचिपूर्ण एवं पूर्व नियोजित होना चाहिए। छात्रों को जब एक साथ अनेक विषयों का अभ्यास कार्य करना होता है तो वह उनके लिये भार बन जाता है तथा वे उसे निर्धारित अवधि में पूर्ण भी नहीं कर पाते। गृहकार्य पाठ्यवस्तु के मूल तत्त्व को बार–बार तथा विभिन्न प्रकार से अभ्यास करने हेतु दिया जाता है। अतः इसमें विविधता आवश्यक है। जिससे छात्रों में अभ्यास–कार्य के प्रति रुचि बनी रहे। अभ्यास कार्य इस प्रकार का हो जिससे छात्रों में विभिन्न प्रकार की कुशलताओं का भी विकास हो सके।

4. प्रयोग

प्रत्येक ज्ञान जीवन में व्यवहार में लाने के उद्देश्य से ही अर्जित किया जाता है। **अनुभवजन्य ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान होता है, अन्यथा वह केवल पुस्तकीय या शाब्दिक ज्ञान बनकर रह जाता है।** इस सिद्धान्त के अनुसार ही इस चतुर्थ पद में प्रत्येक पाठ्य–वस्तु की ऐसी सहायक क्रिया छात्रों द्वारा की जाती है जिसमें उसके द्वारा अर्जित ज्ञान का प्रयोग किया जा सके। यह सहपाठ्य क्रिया विषयों की प्रकृति के अनुरूप अपनायी जाती है। भाषा एवं साहित्य के पाठ्य विषयों में अभिनय, अन्त्याक्षरी एवं वाद–विवाद प्रतियोगिता, इतिहास में प्राचीन स्थलों का अवलोकन, सिक्कों का संग्रह, सर्वेक्षण, मानचित्र–रेखाचित्रों का अंकन, नागरिक शास्त्र में छात्र–संसद, छात्र–मंत्रिमण्डल आदि का विद्यालय में संचालन करना, विज्ञान में मॉडल, चार्ट आदि का निर्माण करना, गणित में कक्ष, क्रीड़ास्थल आदि का क्षेत्रफल ज्ञात करना इत्यादि सहपाठ्य क्रियाएँ अर्जित ज्ञान को क्रियात्मक रूप

देने हेतु अपनायी जाती हैं। अनुभव से ज्ञान प्राप्त करना या करके सीखना (लर्निंग बाइ डूइंग) अर्थात् क्रिया–आधार–शिक्षण ही इस चतुर्थ पद में निहित सिद्धान्त है।

5. प्रसार

विषय के अध्ययन, बोध, अभ्यास एवं प्रयोग के द्वारा प्राप्त ज्ञान को आत्मसात् कर उस ज्ञान का प्रसार अथवा विस्तार करना इस पद्धति का पंचम पद है। ज्ञान के प्रसार के लिए द्विविध प्रयास करना चाहिए–(1) स्वाध्याय, (2) प्रवचन।

1. स्वाध्याय

"स्वेन अधीयते इति स्वाध्यायम्" अर्थात् अपने द्वारा जो भी अध्ययन किया जाय उसे ही स्वाध्याय कहते हैं। इस दृष्टि से इस पंचम पद में छात्रों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे नवीन अर्जित ज्ञान के विस्तार हेतु उससे सम्बन्धित पुस्तकों का अध्ययन करें। अध्यापकों से अपेक्षा है कि वे इस सम्बन्ध में छात्रों को सुझाव दें और उन्हें बतायें कि उनको सम्बन्धित विषय–सामग्री किस पुस्तक या पत्र–पत्रिका में उपलब्ध हो सकेगी। विद्यालय के पुस्तकालय में इस प्रकार की पुस्तकों एवं पत्र–पत्रिकाओं की व्यवस्था वांछनीय है। स्वाध्याय से छात्रों के अर्जित ज्ञान का विस्तार होता है तथा तुलनात्मक अध्ययन से पाठ्यविषय के सभी पक्ष स्पष्ट होते हैं। इससे छात्रों में ज्ञानार्जन हेतु आवश्यक अनुसन्धान–वृत्ति का विकास भी होता है।

स्वाध्याय का अर्थ 'स्व' का अध्ययन भी है। इसका भावार्थ अर्जित ज्ञान का उपयोग 'स्व' अर्थात् आत्मा के विकास हेतु करना है। अध्यात्म की दृष्टि से तो वेदों के अथवा धर्मशास्त्रों के अध्ययन एवं उसके अर्थचिन्तन को ही स्वाध्याय कहते हैं। परन्तु यहाँ स्वाध्याय के द्वारा अर्जित ज्ञान का विस्तार, उस ज्ञान को अपने विकास के लिये लागू करना तथा उसका उपयोग अपने राष्ट्र एवं मानव–समाज की समस्याओं के समाधान में और उसके विकास में किस प्रकार किया जा सके, इसका अध्ययन एवं चिन्तन करना है।

2. प्रवचन

उपार्जित ज्ञान को प्रवचन के द्वारा दूसरों को वितरित करने से ज्ञान एवं विद्या में वृद्धि होती है। यह शास्त्र सम्मत एवं अनुभवजन्य सिद्धान्त है। साथ ही इससे स्वार्थपरता के स्थान पर परार्थपरता के उदात्त भाव का भी विकास होता है जो कि शिक्षा या ज्ञानार्जन का मूल उद्देश्य है। जो ज्ञान मैंने प्राप्त किया है उसको मैं दूसरों को प्रदान कर उनको लाभान्वित करूँ, यह वृत्ति विद्यार्थियों में जाग्रत करने की

आवश्यकता है। आजकल विद्यार्थियों में स्वार्थवृत्ति एवं प्रतिस्पर्धा की भावना व्याप्त है। ज्ञान में मुझसे कोई दूसरा आगे न निकल जाय, मैं ही परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करूँ, यह सामान्य वृत्ति पायी जाती है। इससे स्वार्थ–परता, अहंकार एवं असामाजिकता विद्यार्थियों में पनपती है जो जीवन के विकास में बाधक है।

अतः विद्या–मन्दिरों में इस प्रकार की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे विद्यार्थियों को अपने पिछड़े साथियों को पढ़ाने का अवसर मिले। इससे पढ़ाने वाले छात्र का ज्ञान परिपक्व होगा और पिछड़े छात्रों को उनके बराबर आने का अवसर मिलेगा। प्राचीन भारत में यह पद्धति प्रचलित थी।

इस प्रकार सरस्वती विद्या मन्दिरों में अधीति, बोध, अभ्यास, प्रयोग एवं प्रसार– इन पाँच पदों के माध्यम से छात्र सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। पंचपदी शिक्षण–पद्धति से छात्रों द्वारा अर्जित ज्ञान अनुभवजन्य, सम्पूर्ण एवं स्थायी होता है।

पंचपदी शिक्षण–पद्धति के आधार

लक्ष्य–आधारित पाठ–योजना

सफल शिक्षण के लिये यह आवश्यक है कि शिक्षक पाठ्य–विषय को छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करने से पूर्व उसकी तैयारी करें तथा उसकी पूर्ण योजना बनायें। जो शिक्षक बिना पूर्व–तैयारी के पढ़ाते हैं, वे छात्रों के प्रति न्याय नहीं करते और न अपने कर्तव्यों का पूर्ण पालन ही करते हैं।

पाठ–योजना में शिक्षक को स्पष्ट लक्ष्य निर्धारित करने चाहिए। सरस्वती विद्या मन्दिरों की अभिनव पंचपदी शिक्षण–पद्धति के परिप्रेक्ष्य में निम्नांकित बिन्दुओं में लक्ष्य निर्धारित करना उपयोगी होगा–

1. ज्ञानात्मक विकास (Development of Knowledge)
2. बोधात्मक विकास (Development of Understanding)
3. कुशलताओं का विकास (Development of Skills)
4. ज्ञान का प्रयोग (Application of Knowledge)
5. अभिवृत्ति का विकास (Development of Attitudes)

1. ज्ञानात्मक विकास

ज्ञानात्मक विकास के अन्तर्गत शिक्षक को पाठ–योजना में यह स्पष्ट अंकित करना चाहिए कि प्रस्तुत विषय या पाठ के शिक्षण में कौन–कौन से तथ्यों, घटनाओं एवं सूचनाओं की जानकारी छात्रों को होनी चाहिए। उदाहरणार्थ – नागरिक–शास्त्र में यदि 'लोकतांत्रिक सरकार का स्वरूप' विषय पढ़ाना है तो मतदाता, मतदान बा

अधिकार, राजनीतिक दल, प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष चुनाव, मूल अधिकार आदि विषयों की जानकारी छात्रों को देनी है।

2. बोधात्मक विकास

इसके अन्तर्गत छात्रों को पाठ्यविषय के कौन से मूल तत्त्वों एवं सिद्धान्तों का बोध होना चाहिए, यह पाठ–योजना में स्पष्ट करना चाहिए। लोकतांत्रिक सरकार के स्वरूप में छात्रों को यह बोध होना चाहिए कि लोकतांत्रिक सरकार में सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित होती है तथा जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा सरकार चलायी जाती है और लोकतांत्रिक शासन–प्रणाली में बहुमत से सभी निर्णय लिये जाते हैं।

3. कुशलताओं का विकास

विद्यालय में गठित छात्र–संसद एवं छात्र–मंत्रिमण्डल के कार्यों को लोकतांत्रिक पद्धति से सम्पादित करने की कुशलताओं का विकास छात्रों में होना चाहिए। विद्यालय में छात्रों के हित में कार्य करने एवं उनके जनमत को समझने की क्षमता का विकास भी आवश्यक है। इसी प्रकार अन्य पाठ्य–विषयों में कौन–कौन सी कुशलताओं का विकास छात्रों में करना है, इसका पूर्व–विचार शिक्षकों को करना अपेक्षित है।

4. ज्ञान का प्रयोग

विद्यालय में छात्र–संसद, छात्र–मंत्रिमण्डल, छात्र–परिषद् आदि लोकतांत्रिक संस्थाओं का गठन एवं उनकी नियमित गतिविधियाँ चलना आवश्यक हैं जिससे छात्र 'लोकतांत्रिक सरकार का स्वरूप' पाठ्य–विषय से अर्जित ज्ञान का प्रयोग कर सकें। इसी प्रकार अन्य पाठ्य–विषयों में ऐसी क्रियाओं को कराया जाना चाहिए जिससे छात्रों को अर्जित ज्ञान का प्रयोग करने का अवसर प्राप्त हो सके।

5. अभिवृत्तियों का विकास

छात्रों में लोकतांत्रिक पद्धति एवं लोकतांत्रिक संस्थाओं के प्रति आदर का भाव विकसित करना तथा नागरिकता के कर्तव्यों का पालन स्वेच्छा से करने की भावना का विकास करना चाहिए। अभिवृत्तियों का विकास प्रत्येक पाठ्य–विषय में हो सके, इसका ध्यान शिक्षक को रखना चाहिए।

जिस प्रकार 'लोकतांत्रिक सरकार का स्वरूप' पाठ्य–विषय का ज्ञानात्मक विकास, बोधात्मक विकास, कुशलताओं का विकास, ज्ञान का प्रयोग एवं अभिवृत्ति का विकास उदाहरणस्वरूप यहाँ प्रस्तुत किया गया है, इसी प्रकार पाठ–योजना बनाते

समय शिक्षक को इन उद्देश्यों को स्पष्ट करके लिखना और शिक्षण उनके अनुरूप करना चाहिए। इस पद्धति से किया गया शिक्षण लक्ष्य–आधारित शिक्षण होता है।

उपर्युक्त पाँचों लक्ष्य पंचपदी शिक्षण–पद्धति के पाँचों पदों के पूरक एवं अनुरूप हैं। ज्ञानात्मक विज्ञस में अधीति, बोधात्मक में बोधपद, कुशलताओं के विकास में अभ्यस्त पद एवं ज्ञान के प्रयोग में सहपाठ्य क्रिया तथा अभिवृत्ति के विकास का प्रसार पद पूरक है।

वर्ग–कक्ष के स्थान पर विषय–कक्ष

प्रायः विद्यालय में वर्ग–कक्ष होते हैं, जैसे–कक्षा छः का कक्ष या सात का कक्ष। किन्तु पंचपदी शिक्षण–पद्धति के सफल प्रयोग के लिये विषयानुसार कक्षों की व्यवस्था होनी चाहिए। यदि विद्या–मन्दिर भवन में भी तीन शिक्षण–कक्ष हैं तो भी सर्वप्रथम विज्ञान–कक्ष, पुस्ताकलय एवं वाचनालय कक्ष औार योग–कक्ष का रूप उन कक्षों को देना चाहिए। विज्ञान–कक्ष में फर्नीचर की व्यवस्था इस प्रकार की जाये जिससे छात्र प्रयोग एवं अध्ययन–दोनों कार्य उसमें कर सकें। पुस्कालय एवं वाचनालय में भी एक कक्षा के सभी छात्रों के बैठने की व्यवस्था हो, जिससे उस कक्ष में अन्य विषयों का शिक्षण–कार्य भी हो सके। योग–कक्ष में दरी फर्श बिछा हो और छात्रों के लिखने के लिये केवल चौकियाँ हों। आवश्यकतानुसार उन चौकियों को हटाया अथवा लगाया जा सकता है तथा इस योग–कक्ष में आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि के अभ्यास के अतिरिक्त अन्य विषयों का शिक्षण भी हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विषयानुसार कक्षों की व्यवस्था करने के लिये उतने ही कक्षों से कार्य चलाया जा सकता है। आवश्यकता है योजकता की एवं मूल शैक्षिक विषयों के चयन करने की। विषय–कक्ष में सम्बन्धित आचार्य बैठेंगे; उपकरण, शिक्षण–सहायक सामग्री, विषय–पुस्तकालय आदि सभी वहाँ उपलब्ध रहेंगे। छात्र वेला के अनुसार विषय–कक्षों में अध्ययन हेतु आवागमन करेंगे। विद्या–मन्दिरों में यह व्यवस्था सफल सिद्ध हुई है।

शिक्षण प्रारंभ करने से पूर्व ध्यान एवं ओंकार ध्वनि

सरस्वती विद्या–मन्दिरों में योग–आधारित शिक्षण की चर्चा होती है। इसके लिये यथासम्भव प्रयास भी चलता है तथा योगाधारित शिक्षण–पद्धति धीरे–धीरे विकसित हो रही है। इसके लिये सर्वप्रथम प्रत्येक विद्या–मन्दिर में एक योग–कक्ष की व्यवस्था होना आवश्यक है जिसमें छात्रों को नियमित आसन, प्राणायाम एवं ध्यान का अभ्यास कराया जा सके तथा उसमें सैद्धान्तिक पक्ष का अध्ययन भी हो।

साथ ही यह अभ्यास कराया जाये कि प्रत्येक वेला (पीरियड) में शिक्षण–कार्य एक मिनट के ध्यान (मौन) एवं ओंकार की ध्वनि से प्रारंभ किया जाय। यह वैज्ञानिक रूप से सिद्ध है कि एक वेला में अध्ययन किये गये विषय के पश्चात् द्वितीय विषय आरम्भ करने से पूर्व मस्तिष्क को अवकाश एवं शान्ति की आवश्यकता है, तभी छात्र द्वारा अर्जित ज्ञान उसकी स्मृति का अंग बन सकता है। ध्यान एवं ओंकार की ध्वनि से मस्तिष्क शान्त एवं एकाग्र होता है एवं उसकी ग्रहण–शक्ति में वृद्धि होती है। अनेक विद्या–मन्दिरों में यह पद्धति अपनाई जाती है और उसका परिणाम शिक्षण में एवं छात्रों की उपलब्धि पर अच्छा हुआ है। यह पद्धति हमारे शिक्षण–कार्य का अंग बननी चाहिए। अनेक पाश्चात्य देशों में भी इसको अपनाया जाता है।

शिक्षण–प्रविधि (शिक्षण तकनीकी)

विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति ने मानव–जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित किया है। शिक्षा के क्षेत्र में रेडियो, टेपरिकॉर्डर, वीडियोटेप, फिल्म, क्लोज सर्किट टेलीविजन, कंम्पयूटर, शिक्षण–यन्त्र आदि का प्रवेश भी वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी आविष्कारों का स्वाभाविक परिणाम है। इन उपकरणों के उपयोग और शिक्षा एवं मनोविज्ञान के सम्मिलित प्रभाव से ही शैक्षिक प्रविधि या शैक्षिक तकनीकी के नाम से नवीन शिक्षण–विधि का जन्म हुआ है। इस नवीन शैक्षिक तकनीकी का व्यवहार अमेरिका, इंग्लैण्ड, रूस आदि सम्पन्न देशों के विद्यालयों में सामान्य हो गया है। भारत के शिक्षाविद् इन देशों की शैक्षिक अध्ययन यात्राओं से वापस आने पर अपने देश में भी उस तकनीक को अपनाने का सुझाव देते हैं। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद् में तो शैक्षिक तकनीकी के नाम से एक नवीन विभाग भी आरम्भ हो गया है तथा कंम्पयूटर एवं क्लोज सर्किट टेलीविजन आदि के माध्यम से कुछ विद्यालयों में शिक्षण–कार्य भी चल पड़ा है।

जिस देश में सत्तर प्रतिशत जनसंख्या निरक्षर है तथा जहाँ लाखों विद्यालयों में छात्रों के बैठने के लिये न टाट–पट्टी है और न सिर पर छाया के लिये विद्यालय की छत है, दृश्य–श्रव्य सहायक सामग्री के नाम पर श्यामपट्ट और खड़िया भी जहाँ अधिकांश विद्यालयों में उपलब्ध नहीं है, ऐसे देश के विद्यालयों में शैक्षिक तकनीकी से आधुनिक उपकरणों को अपनाने की बात करना एक हास्यास्पद बात है। दिल्ली और मुम्बई के उन विद्यालयों में, जहाँ सम्पन्न परिवारों के बालक शिक्षा प्राप्त करते हैं, यह योजना भले ही कार्यान्ति हो जाय, किन्तु भारत की 82 प्रतिशत ग्रामीण जनता को अभी इसके लिये पर्याप्त प्रतीक्षा करनी होगी।

शैक्षिक प्रविधि के आर्थिक पक्ष के अतिरिक्त दूसरा पक्ष भी विचारणीय है और वह दूसरा पक्ष है मानवीय सम्बन्धों का। आधुनिक शैक्षिक तकनीकी के द्वारा शिक्षण

का यन्त्रीकरण करने की प्रक्रिया पाश्चात्य देशों में प्रगति कर रही है। वहाँ शिक्षकों का स्थान दूरदर्शन, संगणक (कम्पयूटर) आदि उपकरण ग्रहण कर रहे हैं। शिक्षक–छात्र सम्बन्धों की मानवीय अन्तःप्रक्रिया समाप्त हो रही है। इसी का परिणाम है कि उन देशों में आधुनिक शिक्षण तकनीकी के माध्यम से ऐसे व्यक्तियों का निर्माण हो रहा है जो बुद्धि से प्रखर, परन्तु हृदय से शून्य होते हैं।

भारतीय सन्दर्भ में हमें इस बात की सावधानी रखनी होगी कि आधुनिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी (टेक्नालॉजी) को अपनाने के नाम पर हम पश्चिम का अन्धानुकरण न करें। इसमें सन्देह नहीं कि ज्ञान के विकास के लिये हम विज्ञान और प्रौद्योगिकी की सहायता लेंगे, किन्तु यदि विकास के नाम पर विज्ञान और तकनीकी हमारे जीवन के आधार बन गये तो डा. राधाकृष्णन् के शब्दों में 'राक्षस–राज्य' की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।

शिक्षण प्रक्रिया में शिक्षक का स्थान महत्त्वपूर्ण एवं सर्वोपरि है। शिक्षण–पद्धति, पाठ्यक्रम, भवन आदि शिक्षण–सामग्री की व्यवस्था कितनी भी उत्तम क्यों न हो, **यदि चरित्रवान एवं योग्य व्यक्ति मार्गदर्शन के लिये शिक्षक के पद पर आसीन नहीं है तो उक्त सम्पूर्ण व्यवस्थाएँ निरर्थक हो जाती हैं।** शिक्षक यदि योग्य रहा तो वह भौतिक साधनों के अभाव में भी विद्यार्थियों को उत्तम शिक्षा प्रदान कर सकता है। शिक्षक एक पाण्डित्यपूर्ण एवं भौतिक शरीरधारी, मात्र व्यक्ति नहीं है, अपितु, वह एक आध्यात्मिक व्यक्तित्व है जो अपने आत्मा के प्रकाश से विद्यार्थी के अन्तःकरण को उसी प्रकार आलोकित करता है जैसे एक दीप से दूसरा दीप आलोकित होता है। भारतीय शैक्षिक चिन्तन में शिक्षक का पद महान एवं सर्वोपरि माना गया है।

आधुनिक 'शिक्षण तकनीकी' शिक्षक के कार्य में सहायक बन सकती है और शिक्षण की प्रक्रिया को प्रभावी बना सकती है, किन्तु शिक्षक का स्थान नहीं ले सकती। अपने देश की विशाल जनसंख्या के लोक–शिक्षण के कार्य को अनौपचारिक रीति से शैक्षिक प्रविधि की सहायता से कम खर्चे में प्रभावी बनाया जा सकता है। आज हम आधुनिक 'शैक्षिक तकनीकी' की उपेक्षा नहीं कर सकते, केवल आवश्यकता इस बात की है कि शैक्षिक तकनीकी को इस प्रकार रूपान्तरित कर दें कि वह हमारी संस्कृति की पोषक एवं परिवेश के अनुकूल बनकर देश की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

9

विद्यालय में संस्कारक्षम वातावरण

विद्यालय–सरस्वती के पवित्र मन्दिर

'समस्त ज्ञान मनुष्य के अन्तर में अवस्थित है। आवश्यकता है उसके जागरण के लिये उपयुक्त वातावरण की।" इस वातावरण के निर्माण हेतु किये गये संगठित प्रयास की संज्ञा ही विद्यालय है। विद्यालय ईंट और गारे का बना हुआ भवन नहीं है। विद्यालय आध्यात्मिक संगठन है, जिसका अपना स्वयं का विशिष्ट व्यक्तित्व होता है। विद्यालय पवित्र मन्दिर है, जहाँ विद्या की देवी के रूप में सरस्वती की निरन्तर अराधना होती है। विद्यालय साधना–स्थली है, जहाँ शील और चरित्र का विकास होता है। विद्यालय ज्ञान, कला, विज्ञान और संस्कृति का गतिशील केन्द्र है, जो समाज में जीवन–शक्ति का संचार करता है।

विद्यालय प्रकृति की गोद में

प्राचीन भारत में विद्यालय की उक्त अवधारणा गुरुकुल आश्रमों एवं विश्वविद्यालयों में पुष्पित एवं पल्लवित होती थी। ये विद्या–केन्द्र नगरों से दूर खुले जंगल में नदी या जलाशय के समीप स्थापित किये जाते थे जिससे नगरों का कोलाहल और कुप्रभाव छात्रों को प्रभावित न कर सके। आकाश, अग्नि, वायु, जल तथा मिट्टी से बने हुए जगत् को ध्यानपूर्वक देखना, उसके महत्त्व को समझना ही वास्तविक शिक्षा है। यह शिक्षा नगरों के अप्राकृतिक वातावरण में स्थित विद्यालयों में पूर्ण रूप से नहीं दी जा सकती। खुला आकाश, खुली वायु तथा फूल और पत्ते मनुष्य के शरीर, मन और बुद्धि के विकास के लिये और उन्हें शक्ति देने के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। अतः यदि हम आदर्श विद्यालय स्थापित करना चाहते हैं तो हमें नगर से बाहर वन में, खुले आकाश के नीचे, विशाल मैदान में, प्राकृतिक वृक्षों के मध्य उसका प्रबन्ध करना चाहिए।

यदि संभव हो तो विद्यालय के साथ थोड़ी सी खेती के योग्य भूमि भी हो। इस भूमि से विद्यालय की आवश्यकता की पूर्ति हेतु खाद्यान्न और अन्य वस्तुएँ प्राप्त की

जा सकेंगी। विद्यार्थी खेती–बाड़ी के कार्य में सहायता देंगे। दूध, घी आदि प्राप्त करने के लिये गाय रखी जा सकती हैं और विद्यार्थियों को इनकी सेवा का अवसर भी मिलेगा। अवकाश के समय छात्र अपने हाथ से बाग लगायेंगे, पौधों को पानी देंगे और बाग की सुरक्षा के लिये बाड़ लगायेंगे। इस प्रकार वे प्रकृति के साथ न केवल भावात्मक रूप से जुड़ेंगे, अपितु श्रम का आनन्द भी प्राप्त करेंगे। जब वायुमण्डल स्वच्छ होगा तो कक्षाएँ वृक्षों की छाया में बैठकर अध्ययन करेंगी। उनकी शिक्षा का कुछ समय शिक्षकों के साथ वनस्पतियों, फूलों, पत्तों के अवलोकन एवं निरीक्षण में एवं प्रकृति के रहस्यों को खोजने में व्यतीत होगा। सायंकाल का समय विद्यार्थी तारों की पहचान करने में, संगीत में, प्राचीन काल की कहानियाँ तथा ऐतिहासिक घटनाएँ सुनने में व्यतीत करेंगे।

विद्यालय के इस प्राकृतिक वातावरण में ही छात्र वास्ततिक शिक्षा ग्रहण कर अपना सर्वांगीण विकास कर सकेंगे। अंग्रेजों की दासता के काल में चार दीवारों के भीतर स्थापित विद्यालय के विकास के लिये उपयुक्त वातावरण कदापि प्रदान नहीं कर सकते। शान्तिनिकेतन के जन्मदाता श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इन विद्यालयों का अत्यन्त ही सजीव चित्रण करते हुए कहा है–"हम विद्यालयों को शिक्षा देने का एक प्रकार का कल या कारखाना समझते हैं। अध्यापक लोग इस कारखाने के एक प्रकार के पुर्जे हैं। साढ़े दस बजे या दस बजे घण्टा बजाकर कारखाने खुलते हैं। पुर्जों का चलना आरम्भ हो जाता है और अध्यापकों की जबान (जिह्वा) भी चलने लगती है। चार बजे कारखाने बन्द हो जाते हैं। पुर्जे अर्थात् अध्यापक भी अपनी जिह्वा बन्द कर लेते हैं। उस समय विद्यार्थी भी इन पुर्जों की कटी–छँटी दो–चार पृष्ठों की शिक्षा लेकर अपने–अपने घरों को वापस चले जाते हैं। इसके पश्चात् परीक्षा के समय विद्यार्थी की बुद्धि का अनुमान लगाया जाता है। अतः उस पर 'मार्क' अथवा 'नम्बर' लगा दिये जाते हैं।"

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने प्राचीन भारत की गुरुकुल आश्रम पद्धति का समर्थन करते हुए कहा है– "शिक्षा के लिए अब भी हमें जंगलों और वनों की आवश्यकता है। गुरुकुल भी अवश्य होने चाहिए। वन हमारे रहने के लिए जीवित स्थान है। आज हमें भी उन वनों में और उन गुरुकुलों में अपने बच्चों को ब्रह्मचर्य का व्रत रखाकर उनकी शिक्षा को संपूर्ण करना होगा। समय के हेर–फेर से स्थितियाँ चाहे कितनी ही क्यों न बदल जायें, परन्तु इस शिक्षा–प्रणाली के लाभदायक सिद्ध होने में कदापि तनिक भी अन्तर नहीं पड़ सकता। कारण यह है कि यह नियम मनुष्य के अमर सत्य पर निर्भर है।"[1]

---

1. रवीन्द्रनाथ ठाकुर–'शिक्षा', पृ. 18

सारांश यह है कि **यदि हम आदर्श विद्यालय चाहते हैं तो उसके लिये अपेक्षित वातावरण प्रकृति की गोद में ही मिलेगा।** आज देश में प्राचीन गुरुकुल आश्रम पद्धति के आदर्श आवासीय विद्यालयों की अतीव आवश्यकता है। किन्तु यदि यह संभव न हो सके तो जिस भवन में बालक पढ़ाये जाते हैं उसमें अधिक–से–अधिक निर्बाध, सीधा, खुला प्रकाश और शुद्ध वायु छात्रों को निरन्तर मिलती ही रहनी चाहिए। विद्यालय के चारों ओर या बीच में इतना खुला मैदान भी हो कि अवकाश के समय छात्र उसमें खेलकूद सकें। विद्यालय–प्रांगण में सुंदर वाटिका हो तथा विद्यालय की भीतों पर फूल–पत्ते या बेल–बूटे लगे हों जिससे विद्यालय हँसता हुआ सा दिखाई पड़े। विद्यालय–परिक्षेत्र में हमें अधिक से अधिक प्राकृतिक वातावरण निर्मित करने का प्रयास करना चाहिए।

विद्यालय–भवन सरलता, सुन्दरता एवं पवित्रता से युक्त

विद्यालय के भवन निर्माण में यही विचार करना चाहिए कि स्वस्थ एवं हरे–भरे वातावरण में छात्रों को अधिकतम खुला प्रकाश और निरंतर प्रवाहित स्वच्छ वायु कैसे मिले। विद्यालय–भवन में तड़क–भड़क ना हो। सरलता, पवित्रता, स्वच्छता एवं सुन्दरता से युक्त भवन चाहिए। आजकल विद्यालयों की स्थापना हेतु अनुमान लगाते समय यूरोप, अमरीका के धनी देश हमारे सम्मुख आदर्श होते हैं। भवन, सामान और फर्नीचर आदि के अनुमान लगाते समय 75 प्रतिशत अनावश्यक वस्तुएँ होती हैं। हम जितनी अधिक अनावश्यक वस्तुओं को आवश्यक और अनिवार्य बनाते जायेंगे, उतनी ही अधिक हमारी शक्तियाँ व्यर्थ नष्ट होती रहेंगी। पहले हमारे देश में वास्तविक वस्तु–शिक्षा की ओर अधिक ध्यान रहता था। अब उस मुख्य वस्तु की ओर कम ध्यान रखा जाता है, परन्तु तैयारियों पर सारे साधन और शक्तियाँ व्यय कर दी जाती हैं। आज हमारी अधिकांश शक्ति विद्यालय भवन और 'फर्नीचर' की व्यवस्था में ही समाप्त हो जाती है। वास्तव में भारत में यदि हमें शिक्षा की व्यवस्था सामान्य जन का ध्यान रखकर करनी है तो विद्यालयों के लिये विशाल और भव्य अट्टालिकाओं की तथा मेज–कुर्सियों की आवश्यकता नहीं है।

"प्राकृतिक नियमें के अनुसार अति साधारण जीवन व्यतीत करना ही सभ्यता है। अधिक वस्तुओं से जकड़े रहना वास्तव में मूर्खता है। कम से कम यदि हम विद्यार्थी जीवन में इस आदर्श को अपने सम्मुख रखकर कार्य कर सकें तो चाहे और कुछ न हो, परन्तु हम बड़ी योग्यता और शक्ति प्राप्त कर सकेंगे। धरती पर बैठ सकने की शक्ति, मोटा खाने की, मोटा पहनने की शक्ति–ये सब साधारण शक्तियाँ नहीं हैं। सम्पन्न घरों के छात्रों को ये शक्तियाँ बिना अभ्यास के प्राप्त नहीं हो सकतीं। परन्तु इस प्रकार की शिक्षा बचपन से ही दी जानी चाहिए। परंतु व्यर्थ के और

अस्वाभाविक उपदेशों द्वारा नहीं, वरन् मान्यताओं और उदाहरणों द्वारा यह शिक्षा बच्चों के हृदयों पर अंकित कर देनी होगी। यदि यह शिक्षा नहीं दी जायेगी तो हमारे बालक न केवल अपने हाथ–पैर और अपने घर की धरती का ही अनादर करेंगे, बल्कि अपने कुल–पुरुषों को घृणा की दृष्टि से देखेंगे और प्राचीन भारत की साधना के महत्त्व को भली प्रकार समझ नहीं सकेंगे।"[1]

विद्यालय में प्रेम, आत्मीयता एवं सद्भावना का वातावरण

विद्यालय के वातावरण को संस्कारक्षम बनाने हेतु स्वच्छता, व्यवस्था एवं सुन्दरता आवश्यक है, परन्तु शिक्षकों में छात्रों के प्रति प्रेम और आत्मीयता की भावना परमावश्यक है। शिक्षकों में भी परस्पर प्रेम, आत्मीयता और सद्भावना अपेक्षित हैं। शिक्षकों, प्राचार्यों एवं प्रबन्धकों में परस्पर तनाव एवं द्वेषपूर्ण भावनाओं से विद्यालय का वातावरण दूषित होता है। अतः विद्यालय के वातावरण को संस्कारक्षम एवं शिक्षाप्रद बनाने के लिये सभी में परस्पर प्रेम, आत्मीयता, विश्वास एवं सद्भावना आवश्यक है। प्रेम, आत्मीयता और सद्भावना की तरंगों से वायुमण्डल पवित्र एवं आध्यात्मिक बनता है जो ज्ञान की साधना के लिये आवश्यक है।

विद्यालय में संगीत एवं कला का वातावरण

विद्यालय आरंभ होने से पूर्व, प्रातः एवं सायं, अवकाश–काल में मधुर संगीत के स्वरों से वातावरण में पवित्रता एवं दिव्यता घुल जाती है। इसकी व्यवस्था प्रत्येक विद्यालय में होनी चाहिए। इसी प्रकार संस्कारक्षम बोध–पट, कलात्मक एवं सौन्दर्यपूर्ण मूर्तियों, चित्रों से युक्त वातावरण छात्रों की भावनाओं को परिष्कृत करने का सहज–सबल साधन बनता है। इससे मन में प्रसन्नता, आनन्द और उल्लास भरा रहता है।

प्रार्थना–सभा का वातावरण पवित्रता एवं भक्तिभावपूर्ण हो

विद्यालयों में प्रार्थना–सभा का आयोजन होता है। इसकी ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, अन्यथा विद्यालयों में प्रार्थना का कार्यक्रम यंत्रवत् चलता है जिसका प्रभाव बालकों पर अच्छा नहीं पड़ता। प्रार्थना आध्यात्मिक विकास के लिये प्रभावी साधन है। इसका आयोजन प्रयत्नपूर्वक इस प्रकार किया जाये कि पवित्रता, शान्ति एवं भक्तिभावना छात्रों के हृदयों में सहज भाव से जाग्रत हो। संगीत–वाद्यों

---

1. रवीन्द्रनाथ ठाकुर–'शिक्षा', पृ. 22

के साथ सस्वर कण्ठों से मधुर लय में प्रार्थना का गायन होना चाहिए। प्रार्थना–सभा में सम्पूर्ण विद्यालय परिवार को, अर्थात् छात्रों, शिक्षकों, प्राचार्य एवं अन्य सभी कर्मचारियों को भाग लेना चाहिए। कहीं–कहीं विद्यालयों में प्रातःकाल दैनिक यज्ञ का कार्यक्रम होता है। इससे वेद–मंत्रों की ध्वनि विद्यालय के वातावरण में दैनिक गूँजती है और सारा वायुमण्डल सुगन्धित हो जाता है। इससे विद्यालय का परिक्षेत्र पवित्रता से ओत–प्रोत बनता है।

विद्यालय में छात्रों की अनुशासनयुक्त क्रियाशीलता

विद्यालय केवल पढ़ने का स्थान मात्र न होकर ऐसा केन्द्र होना चाहिए जिसे छात्र अपना घर, खेलने की भूमि, पुस्तकालय, बातचीत करने की चौपाल, अपनी कौतूहल–निवृत्ति की प्रयोगशाला और अपने हाथ–पैर तथा अंगों के संचालन और पोषण का अखाड़ा मानें। अर्थात् विद्यालय ही छात्रों का गांव, समाज, राष्ट्र, घर, मल्लशाला, सबकुछ हो। वास्तव में इस प्रकार की अनुभूति सभी को विद्यालय के वातावरण में होनी चाहिए। इस प्रकार का क्रियाशीलता का वातावरण छात्रों की विभिन्न परिषदों एवं सहपाठ्य क्रियाकलापों के आयोजनों से निर्मित होता है। क्रियाशीलता में अनुशासन हो, छात्र स्वतंत्रता का अनुभव करें एवं उनमें स्वावलम्बन का विकास अपेक्षित है।

विद्यालय में छात्रों और शिक्षकों का वेश

प्रायः विद्यालयों में छात्रों के लिये गणवेश निर्धारित रहता है। इससे विद्यालय का वातावरण अच्छा बनता है। इससे समता एवं अनुशासन की भावना का विकास छात्रों में होता है। छात्रों का गणवेश इस प्रकार का निर्धारित होना चाहिए जो सादा, सुविधाजनक और कम खर्चीला हो, जिसे सर्वसामान्य अभिभावक सरलता से बनवा सकें और उन पर अनावश्यक आर्थिक बोझ न पड़े। इसी प्रकार शिक्षकों का वेश भी निर्धारित होना चाहिए जो सरल, सादा और भारतीयता के संस्कार देने वाला हो। शिक्षकों के वेश का प्रभाव शिक्षकों के साथ–साथ छात्रों और समाज पर भी पड़ता है। अतः यह ध्यान रखकर उनका वेश निर्धारित होना चाहिए।

विद्यालय में भारतीयत्व का वायुमण्डल

विद्यालय के सम्पूर्ण वातावरण में भारतीय संस्कृति एवं आध्यात्मिकता झलकनी चाहिए। विद्यालय–भवन की वास्तुकला, साज–सज्जा, शिष्टाचार, भाषा,

रीति–नीति, परम्पराएँ, छात्रों एवं शिक्षकों की वेश–भूषा, व्यवहार आदि भारतीय संस्कृति से ओत–प्रोत् चाहिए। वातावरण में छात्र यह अनुभूति करें कि वे महान् ऋषियों की सन्तान हैं, उनकी संस्कृति एव ंपरम्पराएँ महान हैं तथा वे भारतमाता के अमृतपुत्र हैं। त्याग, संयम, सरलता, निःस्वार्थता, निष्कपटता आदि भारतीय संस्कृति के गुण विद्यालय में छात्रों और शिक्षकों के व्यवहार से सहज झलकने चाहिए। वर्तमान समय में, जबकि भारतीय जीवन पर पाश्चात्य भौतिकवादी सभ्यता का प्रभाव बढ़ रहा है, विद्यालय के वातावरण से भारतीय संस्कृति के सहज संस्कार छात्रों को मिलना परम आवश्यक है।

10

विद्यालय सामाजिक चेतना के केन्द्र

सामाजिक चेतना का अर्थ

सामाजिक चेतना का अर्थ व्यक्ति में समाज के प्रति आत्मीयता एवं एकात्मता का भाव है। इस भाव के साथ ही समाज के हित का तथा समाज के प्रति ममत्व का विचार आता है और उसकी स्वाभाविक परिणति समाज की भलाई के रक्षण और बुराई के निवारण में होती है। समाज के साथ आत्मीयता और एकात्मता में जीवन की पूर्णता अनुभव करना सामाजिक चेतना का द्योतक है। इसी को श्री अरविन्द ने राष्ट्र के प्रति पूर्ण समर्पण और श्री गुरुजी गोलवलकर ने राष्ट्र पुरुष के प्रति श्रद्धा कहा है। इस सामाजिक चेतना का जागरण शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है।

समाजीकरण–प्रक्रिया का मूलाधार परिवार

मनुष्य का अहं का स्वार्थबोध प्रकृतिजन्य है। उसमें स्वयं की आवश्यकताओं, अपेक्षाओं और महत्वाकांक्षाओं का बोध मूलभूत है। किन्तु सामाजिक चेतना जन्मतः नहीं होती। सामाजिकता उसमें पर्यावरण से प्राप्त संस्कारों के द्वारा विकसित होती है। सामाजिक चेतना सामाजिक प्रक्रिया से निर्मित होती है। इस समाजीकरण प्रक्रिया का मूलाधार परिवार है। परिवार में ही बालक के व्यक्तित्व की नींव रखी जाती है। बालक का 'स्व' परिवार की परिधि तक विस्तृत होता है। वह परिवार में सदस्यों के साथ प्रेम, सहानुभूति, सहयोग आदि गुणों का विकास करता है। इस प्रकार उसके अहंबोध का विकास सामाजिक बोध में परिणति होने का प्रारम्भ परिवार में होता है। योग्य वातावरण के अभाव में अनेक बार यह सामाजिक चेतना परिवार की परिधि तक सीमित रह जाती है। 'परिवार में संस्कारक्षम वातावरण एवं शिक्षा' प्रकरण में हम इस विषय पर विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। विद्यालय में समाजीकरण की प्रक्रिया सोद्देश्य चलती है। विद्यालय में उस सीमित सामाजिक चेतना का विस्तार होता है।

विद्यालय समाज–निर्माण के पवित्र स्थल

विद्यालय शिक्षा के केन्द्र होते हैं। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति के जीवन का निर्माण

होता है। शिक्षा ज्ञान का प्रकाश है। शिक्षा व्यक्ति की बुद्धि को प्रकाशित करती है। समाज व्यक्तियों से बनता है। अतः शिक्षा के द्वारा समाज का निर्माण होता है। शिक्षा के प्रकाश से ही समाज को जीवन मिलता है। इस प्रकार विद्यालय समाज–निर्माण के पवित्र स्थल हैं। विद्यालय को सूर्य की उपमा दी जाती है जिससे प्रकाशित होकर समाज को चेतना प्राप्त होती है। वास्तव में विद्यालय सामाजिक चेतना के केन्द्र हैं।

अन्तर्निहित शक्तियों का विकास समाज–हित के लिये

शिक्षा के माध्यम से बालक की अन्तर्निहित शक्तियों का विकास होता है। ये विकसित शक्तियां अपने समाज के हित–संरक्षण एवं बुराई के निवारण में उपयोग के लिये है। छात्रों में जीवन की यह दृष्टि प्रारम्भ से ही संस्कार रूप में विकसित करना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। इस संस्कार के अभाव में शिक्षा के द्वारा विकसित शारीरिक एवं मानसिक शक्तियाँ दुराचार एवं छल–कपट के रूप में समाज में स्वार्थ–सिद्धि के उपयोग में लायी जाती हैं। आज अपने देश में डकैती, बलात्कार, ठगी एवं चोरी आदि की घटनाओं में प्रायः शिक्षित एवं सम्पन्न घरों के युवक संलग्न पाये जाते हैं। यह आज की कुशिक्षा का ही परिणाम है। स्वार्थ के विसर्जन में नैतिकता एवं सामाजिक हित की भावना के बीज अंकुरित होते हैं। यदि स्वार्थ के विसर्जन के संस्कार एवं सामाजिक चेतना का जागरण छात्रों में विद्यालय के संस्कारक्षम वातावरण में प्रारम्भ से ही हो तो उनकी वही शक्तियां समाज में भलाई के रक्षण एवं बुराई के निवारण में काम आ सकती हैं।

विभिन्न विषयों का ज्ञान समाज की समस्याओं के समाधान–हेतु

शिक्षा के द्वारा छात्रों को विभिन्न विषयों का ज्ञान कराया जाता है। छात्र विद्यालय में इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन करते हैं। इन विभिन्न विषयों का केवल ज्ञान प्राप्त करना स्वयं में कोई उद्देश्य नहीं है। इन विषयों का ज्ञान देश की समस्याओं के समाधान के सन्दर्भ में होना चाहिए। छात्रों में यह चेतना जाग्रत करने की आवश्यकता है कि इतिहास, अर्थशास्त्र एवं विज्ञान आदि विषयों का ज्ञान प्राप्त करने का उद्देश्य समाज की समस्याओं का समाधान कर उसकी उन्नति करना है। विभिन्न विषयों की पाठ्य–वस्तु एवं शिक्षण–प्रणाली भी इस उद्देश्य की पूर्ति के अनुरूप होनी आवश्यक है।

शिक्षा का सम्बन्ध जीवन से जोड़ना

प्रायः यह कहा जाता है कि शिक्षा का उद्देश्य राष्ट्र के भावी नागरिकों का निर्माण करना है और यह अपेक्षा की जाती है कि शिक्षा–संस्थाओं से निकलकर समाज में

छात्रों का जीवन एवं व्यवहार देश के आदर्श नागरिकों के अनुरूप होना चाहिए। किन्तु हमें शिक्षा के उद्देश्य की इस संकल्पना को बदलने की आवश्यकता है। वास्तव में विद्यालय में छात्र को भावी नागरिक मानने के स्थान पर आज के नागरिक के रूप में उसके जीवन का निर्माण करना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर विद्यालय का परिवेश ऐसा बनाया जाये जिसमें विद्यार्थी आदर्श नागरिक के रूप में अपना वर्तमान जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा प्राप्त कर सके। विद्यालय लघु समाज का स्वरूप होता है। छात्रों को अलग–अलग या समूह में विद्यालय के कार्य के विभिन्न उत्तरदायित्व सौंपने चाहिएं। सहपाठ्य क्रियाकलापों के द्वारा उनमें उत्तरदायित्व की भावना, कर्त्तव्यनिष्ठा, व्यवहार में दूसरों के हित का ध्यान रखने का स्वभाव, प्रेम, सहयोग, मिलकर कार्य करने की भावना आदि सामाजिक गुणों का विकास सोद्देश्य करना चाहिए। प्रत्येक छात्र को सद्व्यवहार करने की प्रेरणा एवं अवसर प्राप्त हो सके, इस प्रकार की व्यवस्था विद्यालय में अपेक्षित है। परिषद् छात्रबैंक, छात्र–न्यायालय, स्काउटिंग, बुकबैंक आदि कार्यक्रम सामाजिक जीवन की गतिविधियां हैं जिनके माध्यम से छात्रों में वांछनीय सामाजिक भावना एवं कुशलताओं का विकास होता है। माध्यमिक शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन में भी यह बात इस प्रकार कही गयी हैः "शिक्षा में सुधार का आरंभ विद्यालय को जीवन से पुनः जोड़ने एवं उनमें घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने से होगा, जो कि आज की परम्परागत औपचारिक शिक्षा के कारण टूट चुका है। हमें विद्यालय को वास्तविक सामाजिक जीवन एवं सामाजिक गतिविधियों का केन्द्र बनाना है, जहाँ आदर्श मनुष्य–समुदाय के समान सुन्दर और सहज जीवन की प्रेरणा और प्रणाली दिखाई दें।"[1]

छात्रों को सामाजिक समस्याओं की अनुभूति

सामान्यतः छात्रों को सामाजिक समस्याओं की जानकारी सम्बन्धित विषयों के अध्ययन से प्राप्त होती है। यह जानकारी उन्हें बौद्धिक स्तर पर ही रहती है। समस्याओं का ज्ञान इसे नहीं कहा जा सकता। जानकारी जब अनुभूति का विषय

---

1. "The starting point of Educational reform must be the relinking of the school to life and restoring of the intimate relationship between them which has been broken down with the development of formal tradition of Education. We would like the school to become a centre of actual social life and social activities where the same kind of motives and methods are employed as separate in the life of any normal and decent human group."
   –Report of the Secondary Ed. Commission–page 214.

बनती है, तब उसका रूपान्तर ज्ञान में होता है। यह अनुभूति व्यक्ति के आचरण में प्रकट होती है। इसलिये अनेक मूल्यों को हम केवल बुद्धि के धरातल पर स्वीकार करते हैं, परन्तु उनकी अनुभूति अन्तःकरण में नहीं होने के कारण वे मूल्य व्यक्ति के जीवन में चरितार्थ होते दिखाई नहीं देते। इससे मौखिक सेवा (Lip service) की वृद्धि अधिक हुई है। अतः छात्रों के अन्तःकरण में समाज की समस्याओं की अनुभूति होना आवश्यक है, तभी छात्रों में वास्तविक सामाजिक चेतना का जागरण होगा।

समाज में आज अस्पृश्यता, जातिभेद, निर्धनता, निरक्षरता, दहेज आदि समस्याएँ विकट रूप में व्याप्त हैं। ग्रामों में एवं नगरों की पिछड़ी बस्तियों में तो ये समस्याएँ भयंकर रूप में दिखाई देती हैं। छात्रों को इन समस्याओं का ज्ञान एवं प्रत्यक्ष अनुभूति हो, समाज के पिछड़े एवं निर्धन बन्धुओं के प्रति छात्रों में आत्मीयता एवं एकात्मता की भावना जागृत हो, तभी इन समस्याओं एवं बुराइयों के निवारण के लिये छात्रों में संकल्प–शक्ति जाग्रत होकर वे जीवन में सक्रिय होंगे। इस दृष्टि से प्रत्येक विद्यालय को कोई एक पिछड़ा ग्राम अथवा पिछड़ी बस्ती दत्तक लेनी चाहिए। इस दत्तक ली हुई बस्ती का छात्रों द्वारा सर्वेक्षण, वहां की समस्याओं का अध्ययन हो। वहां के निवासियों से सजीव संपर्क किया जाना चाहिए। एक नगर के विद्यालय से लेखक भली–भांति परिचित हैं। उस विद्यालय ने भी एक ग्राम दत्तक लिया हुआ था। उस विद्यालय के छात्र उस ग्राम में सम्पर्क के लिये जाते थे। दिन–भर ग्राम में रहते थे। अपना भोजन साथ ले जाते और ग्राम के समव्यस्क बालकों को बुलाकर उनके साथ अपना भोजन करते। इस प्रकार उन निर्धन परिवार के बालकों के साथ नगर के उस विद्यालय के छात्रों का, जो अधिकांश सम्पन्न परिवारों के थे, आत्मीयतापूर्ण सम्पर्क स्थापित हो गया। एक बार उन निर्धन ग्रामीणों ने विद्यालय के उन छात्रों को अपने घरों पर भोजन हेतु आमन्त्रित किया। सर्वप्रथम तो छात्र उन निर्धन परिवारों में भोजन करने के लिये जाने में संकोच करने लगे, किन्तु आचार्यजी के समझाने पर तैयार हो गये। दो–दो, तीन–तीन छात्रों की टोली उन परिवारों में भोजन करने गयी। निर्धन ग्रामीणों के छप्पर के घर, मैले कपड़े, अल्युमीनियम और मिट्टी के बर्तन एवं मिट्टी के चूल्हे पर धुएँ से भरा हुआ कच्चा रसोईघर, यह सब दृश्य देखकर छात्रों को आश्चर्य हुआ, क्योंकि यह उनके जीवन का प्रथम अनुभव था। वे उनसे पूछने लगे कि "आपके यहाँ गैस के चूल्हे पर भोजन क्यों नहीं बनाया जाता?" गरीब ग्रामीण बेचारे, इस प्रश्न का उन्हें क्या उत्तर देते? आज हमारे नगरों के सम्पन्न घरों के लोगों को भारत की उस 60 प्रतिशत गरीब जनता के जीवन का परिचय ही नहीं है जिसको दोनों समय पेट–भर भोजन भी नहीं मिल पाता। उस विद्यालय के छात्रों को इस सम्पर्क–कार्यक्रम के माध्यम से अपने समाज के निर्धन

बन्धुओं के दुर्दशापूर्ण जीवन की अनुभूति हुई । कौन जानता है उनमें से कुछ छात्रों ने उनकी दशा सुधारने का अपने जीवन में संकल्प लिया हो?

हमारे देश में पांच करोड़ जनसंख्या वनवासियों की है, जो घोर जंगल में रहते हैं। उनके पास न पहनने को वस्त्र हैं और न दो समय पेट भरने के लिये भोजन। यद्यपि शासन की ओर से उन वनवासियों के लिये, जनजाति के नाम पर उनके जीवन का विकास करने हेतु पर्याप्त धन विभिन्न योजनाओं में व्यय किया जा रहा है, किन्तु भ्रष्ट नौकरशाही उनके विकास के मार्ग में बाधक बनकर खड़ी हुई है। वनवासियों के बीच में अनेक विदेशी इसाई मिशन सेवा–कार्य में संलग्न हैं। यद्यपि ये मिशन उन भोले वनवासियों को, सहायता एवं सेवा के नाम पर, भारी संख्या में ईसाई बनाने का कार्य भी कर रहे हैं, फिर भी इनकी सेवा–भावना सराहनीय है। विद्यालयों के द्वारा इन वनवासी बन्धुओं के बीच में छात्रों को ले जाया जाना चाहिए। उनके जीवन की समस्याओं की अनुभूति छात्रों को करानी चाहिए एवं उनके समाधान हेतु सेवा–कार्यों का आयोजन विद्यालय की ओर से होना चाहिए। नगर के विद्यालय शैक्षिक योजनाओं के अन्तर्गत अपने छात्रों को बम्बई, कलकत्ता और दिल्ली का भ्रमण कराते हैं। वास्तव में भारत के जीवन का दर्शन तो ग्रामों और वनों में ही होता है जहाँ देश की 82 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है। विद्यालयों की शैक्षिक यात्राएँ इन ग्रामीणों और वनवासियों के जीवन से अपने छात्रों को परिचित कराने हेतु आयोजित की जानी चाहिएं। इस प्रकार हम अपने छात्रों में सामाजिक चेतना का जागरण भली–भांति कर सकेंगे।

छात्रों को सामाजिक एकात्मता एवं सहजीवन की अनुभूति कराना

वास्तव में प्रत्येक विद्यालय में छात्रावास होना चाहिए जहां रहकर छात्र जाति, पन्थ, भाषा, निर्धन–धनवान आदि समस्त भेदभावों से ऊपर उठकर सामाजिक एकात्मता एवं सहजीवन की अनुभूति कर सकें। प्राचीन भारत में राजपुत्र एवं निर्धन–पुत्र सभी एक साथ गुरुकुल आश्रम में रहकर अध्ययन करते थे। कृष्ण और सुदामा के जीवन की कथाएँ भारतीय आदर्श के रूप में जन–जन में आज भी प्रचलित हैं। किन्तु वर्तमान समय में जन–शिक्षा का विस्तार होने के कारण प्रत्येक विद्यालय में छात्रावास का होना व्यावहारिक नहीं है। इसकी पूर्ति विद्यालय में शिविरों के आयोजन के माध्यम से की जा सकती है, जहां सभी छात्र दो–तीन दिन साथ रहकर सामाजिक एकता एवं सहजीवन की अनुभूति कर सकते हैं। इसी प्रकार विद्यालयों में छात्रों के सहभोज आदि कार्यक्रम भी कभी–कभी आयोजित किये जाने चाहिएं। स्काउटिंग का कार्यक्रम इस दृष्टि से पर्याप्त उपयोगी हो सकता है।

विद्यालयों में सांस्कृतिक पर्वों के आयोजन

भारतीय संस्कृति का जीवन्त रूप पर्वों और उत्सवों के रूप में प्रचलित है। इन पर्वों के माध्यम से जीवन में उल्लास और आनन्द के साथ–साथ सामाजिक भावना भी समृद्ध होती है। दीपावली और होली आदि का सांस्कृतिक रूप आज विकृत अवस्था में समाज में मनाया जाता है। विद्यालयों में प्रमुख पर्वों के आयोजन अपने शुद्ध रूपों में होने चाहिए। इससे छात्रों में तो सामाजिक भावना का विकास होगा ही, साथ में इन पर्वों की विकृत्तियाँ दूर होकर समाज में भी इनका ठीक ढंग से प्रचलन होगा। इन पर्वों पर विद्यालय में अभिभावकों एवं आस–पास के निवासियों को भी आमन्त्रित करना चाहिए।

छात्रों में स्वदेशी–निष्ठा का जागरण करना

पराधीनता के काल में महात्मा गांधी के 'स्वदेशी आन्दोलन' के कारण स्वदेशी वस्तु, स्वदेशी भाषा, स्वदेशी वेश के प्रयोग करने की समाज में एक लहर सी उत्पन्न हुई थी। बड़े–बड़े अंग्रेजी–शिक्षित लोगों, वकीलों, प्राध्यापकों, छात्रों में खद्दर के वस्त्र, धोती–कुर्ता, गांधी टोपी पहनने में होड़ सी दिखाई देती थी। विदेशी वस्तुओं के प्रयोग को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाता था। परन्तु देश स्वाधीन होने के पश्चात् विदेशी वस्तुओं, विदेशी वेश–भूषा और अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करने में लोग गौरव अनुभव करने लगे हैं। किसी भी स्वतन्त्र देश के लिये यह अपमानजनक स्थिति है। **अतः शिक्षा के माध्यम से हमें अपने विद्यालयों में स्वदेशी निष्ठा की भावना को पुनर्जीवित करने की तीव्र आवश्यकता है। हमारे शिक्षकों को इस कार्य में पहल करनी होगी। तभी छात्रों में इसका प्रभाव होगा।**

विद्यालय सामाजिक गतिविधियों के केन्द्र

शिक्षा के माध्यम से समाज में चेतना जाग्रत हो, यह उसका प्रमुख उद्देश्य है। अतः हमारी शिक्षा–संस्थाओं की गतिविधियां केवल अपने छात्रों तक सीमित न रहकर समाज के जीवन को प्रभावित करने वाली, उसे दिशा देने वाली होनी चाहिए। हमें विद्यालयों के विशाल भवनों का उपयोग सामाजिक क्रियाकलापों के लिये करना चाहिए। इन भवनों पर समाज का करोड़ों रुपया व्यय होता है, किन्तु इनका उपयोग केवल छः घण्टे के लिये होता है और शेष समय में उनमें ताले पड़े रहते हैं। शिक्षा–संस्थाओं में छुट्टियाँ भी अन्य संस्थाओं की तुलना में अधिक होती हैं। वर्ष भर में लगभग छः महीने विद्यालय प्रायः बन्द ही रहते हैं। अतः यह विचार करने की आवश्यकता है कि इन विशाल भवनों का उपयोग समाज के कार्य के लिये

किस पकार हो। हमें विद्यालय के भवन ही नहीं, विद्यालय से सम्बद्ध विशाल जनशक्ति का उपयोग भी सामाजिक चेतना जाग्रत करने हेतु करना चाहिए।

छात्र, शिक्षक, प्रबन्ध–समीति, हितैषी, अभिभावकगण, इन सबकी विशाल जनशक्ति विद्यालय में उपलब है। इस जनशक्ति का उपयोग योजनाबद्ध रीति से यदि किया जाये तो सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को हम शिक्षा के माध्यम से साकार कर सकते हैं। विद्यालय हेतु निम्नांकित गतिविधियां सुझाव के रूप में प्रस्तुत की जा रही हैं –

1. समाज में अनेक निर्धन परिवारों के बालक ऐसे हैं जो विभिन्न कारणों से शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। ये बालक या तो अपने माता–पिता को उनके व्यवसाय में सहायता करते हैं अथवा स्वयं अल्पायु में काम–धन्धों में लग जाते हैं। इस प्रकार के बालकों की शिक्षा की व्यवस्था हम अपने विद्यालयों में रात्रि में निःशुल्क पाठशाला के रूप में कर सकते हैं। योग्य शिक्षक की देशरेख में बड़ी कक्षाओं के छात्र इनके शिक्षण का दायित्व भली–भाँति पूर्ण कर सकते हैं। कुछ जागरुक विद्यालयों में इस प्रकार की योजना चलायी भी जा रही है।

2. योग–शिक्षा की चर्चा आज विश्व भर में हो रही है। अनेक देशों के लोग इस भारतीय विद्या का अपने समाज के स्वास्थ्य के विकास के लिये यथाशक्ति उपयोग कर रहे हैं। किन्तु योग का अपने घर भारत में प्रचलन बहुत कम है। इसका बहुत बड़ा कारण योगशिक्षा–केन्द्रों का अभाव है। इस क्षेत्र में विद्यालयों के द्वारा पर्याप्त कार्य किया जा सकता है। प्रातःकालीन योगशिक्षा–केन्द्र प्रत्येक विद्यालय में चलाये जा सकते हैं। इस प्रकार हम अपने समाज में योग का प्रचार एवं प्रसार कर सकते हैं।

3. प्रत्येक विद्यालय में पुस्तकालय एवं वाचनालय होता है। विद्यालय–समय के अतिरिक्त समय में विद्यालय के वाचनालय का उपयोग समाज के लिये हो सके, इसके लिये समुचित व्यवस्था हम सरलता से कर सकते हैं। समाज भी पुस्तकालय एवं वाचनालय की समृद्धि में अपना योगदान सहर्ष करने को तैयार हो सकता है। वाचन की सुविधाओं के अभाव की पूर्ति भी इस प्रकार हो सकेगी।

4. अनेक निर्धन परिवारों के बालक, जो विभिन्न विद्यालयों में अध्ययन करते हैं, विभिन्न कारणों से कुछ विषयों में पिछड़े (कमज़ोर) रह जाते हैं। अर्थाभाव के कारण वे गृह–शिक्षण (ट्यूशन) की व्यवस्था नहीं कर सकते। इस प्रकार के निर्धन परिवारों के छात्रों की सहायतार्थ विद्यालय में सायंकालीन विशेष शिक्षण–कक्षाएँ आयोजित की जा सकती हैं, जिनमें शिक्षक के रूप में विद्यालय की बड़ी कक्षाओं के मेधावी छात्र कार्य कर सकते हैं।

5. **आज समाज के अनेक सम्पन्न अथवा अंग्रेजी–भक्त परिवार अपने बच्चों को अंग्रेजी माध्यम के कॉन्वेण्ट स्कूलों में पढ़ाते हैं। ये बालक अपने भारतीय धर्म, संस्कृति एवं परम्परा से बिल्कुल वंचित रह जाते हैं।** इन बालकों के लिये हमें अपने विद्यालय में रविवारीय विद्यालय दो घण्टे के लिये चलाना चाहिए। इन रविवारीय विद्यालयों में कथा, गीत, सांस्कृतिक कार्यक्रमों आदि के माध्यम से भारतीय संस्कृति, इतिहास आदि का ज्ञान बच्चों को कराना चाहिए। उन्हें भारतीय संस्कार अनौपचारिक, रुचिपूर्ण कार्यक्रमों के माध्यम से देने की व्यवस्था करना उपयोगी सिद्ध होगा। अन्यथा इस प्रकार के अंग्रेजी सभ्यता में पढ़े हुए बालक आगे जाकर समाज के लिये हानिकारक सिद्ध होते हैं। बम्बई में स्वामी चिन्मयानन्द मिशन के द्वारा इस प्रकार का प्रयोग सफलतापूर्वक चलता है।

6. विद्यालय में विभिन्न सांस्कृतिक पर्वों, उत्सवों एवं महापुरुषों की जयन्तियों के आयोजन सार्वजनिक रूप से अच्छे ढ़ंग से किये जा सकते हैं। इनके माध्यम से समाज में पर्वों के शुद्ध रूप प्रचलित कर सकते हैं तथा इन आयोजनों से समाज में सांस्कृतिक चेतना का भी जागरण होगा। इसी प्रकार शासन के सूचना विभाग से अच्छी फिल्में लेकर सायं के समय समाज के लिये निःशुल्क फिल्मों के प्रदर्शन का आयोजन भी समय–समय पर किया जा सकता है। धार्मिक सन्त–महात्माओं एवं विद्वानों के प्रवचन भी समय–समय पर आयोजित करने चाहिएं।

7. विद्यालय के आसपास के क्षेत्र में स्वच्छता एवं सौन्दर्यीकरण का अभियान भी छात्रों एवं क्षेत्रीय निवासियों के परस्पर सहयोग से लिया जा सकता है। इससे विद्यालय के आसपास का वातावरण स्वास्थ्यप्रद बनेगा एवं समाज को भी इसी दृष्टि से लाभ मिलेगा।

8. **अभिभावक–अध्यापक सम्पर्क** – अभिभावक एवं परिवार के सम्बन्ध में अलग अध्याय में पर्याप्त विवेचन होना है। अभिभावकों के सम्मेलन एवं सम्पर्क के माध्यम से भी समाज में पर्याप्त जागृति उत्पन्न की जा सकती है। यहाँ इस विषय की पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार अनेक प्रकार की गतिविधियों का केन्द्र विद्यालय को बनाया जा सकता है। इससे अपने विद्यालय के छात्रों के साथ–साथ समाज के जीवन में भी सामाजिक चेतना का संचार होगा, जोकि शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य है।

शिक्षा सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का सशक्त माध्यम

शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का एक शक्तिशाली साधन है। समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन के जो प्राकृतिक और सांस्कृतिक घटक बताये हैं, उन सबके विकास का भी मूल कारण शिक्षा ही होती है। मानव–विकास के इतिहास पर

दृष्टिपात करने पर भी इस सत्य का समर्थन होता है। **रूस में सन् 1917 के बाद सामाजिक परिवर्तन लाने के लिये शिक्षा का सहारा लिया गया था और द्वितीय विश्वयुद्ध के समय, वह सब दृष्टि से अविकसित देश, विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रों की पंक्ति में खड़ा हो गया।** इस प्रकार अनेक देशों के उदाहरण इतिहास में भरे पड़ें हैं जिन्होंने अपने देश में सामाजिक चेतना के जागरण का एवं वांछित परिवर्तन का शिक्षा को मुख्य अभिकरण बनाया। कोठारी शिक्षा आयोग ने लिखा है कि शिक्षा ही एकमात्र साधन है जिसके माध्यम से बिना हिंसक क्रान्ति के समाज में परिवर्तन लाया जा सकता है। अन्य माध्यम भी परिवर्तन में सहायक हो सकते हैं, किन्तु राष्ट्रीय शिक्षा–व्यवस्था ही केवल ऐसा साधन है जो समाज के सब लोगों तक पहुँच सकता है।[1]

सारांश यह है कि हमारे शिक्षा–संस्थानों को अपनी समस्त गतिविधियाँ एवं शिक्षा–प्रक्रिया सामाजिक चेतना के केन्द्र के रूप में संचालित करने की आवश्यकता है। आज अपने देश में स्वार्थवाद एवं संकीर्णता प्रबल है, अतः शिक्षा के माध्यम से छात्रों में एवं समाज में सामाजिक एवं राष्ट्रीय भावना के जागरण की प्रथम आवश्यकता है। इसी में देश की सुरक्षा एवं उन्नति निहित है।

---

1. "If this change, on a grand scale, is to be achieved without violent revolution (and even for that it would be necessary) there is one instrument and one instrument only, that can be used; EDUCATION. Other agencies may help, and can indeed sometimes have a more apparent impact. But the national system of education is the only instrument that can reach all people."

   —Report of the Education Commission—1964, page 8.

11

परिवार और शिक्षा

परिवार संस्था का महत्त्व

सृष्टि में मानव–शिशु सबसे अधिक दुर्बल एवं असहाय प्राणी होता है। जिस समय उसका जन्म होता है, उस समय वह न चल–फिर सकता है, न स्वयं खा–पी सकता है और न अपनी आवश्यकताओं को अभिव्यक्त ही कर सकता है। जहाँ अन्य पशुओं के शिशु कुछ सप्ताह अथवा कुछ माह पश्चात् ही हाथ–पैर से पुष्ट होकर उछलने–कूदने और उदरपूर्ति की क्रियाओं में संलग्न हो जाते हैं, वहाँ मानव–शिशु कितने ही वर्षों तक सर्वथा निरुपाय और परनिर्भर बना रहता है। परिवार में यदि उसकी देखभाल न हो तो उसका अस्तित्व नहीं बच सकता। किन्तु यही निरुपाय प्राणी बड़ा होकर समस्त प्राणी–जगत् पर शासन करता है। परिवार संस्था में ही निरुपाय और परनिर्भर मानव–शिशु सब प्रकार से विकसित होकर मनुष्य की संज्ञा पाने योग्य बनता है।

परिवार प्रकृति की देन है। थोड़ी बहुत भिन्नता के साथ परिवार सभी प्राणियों में होते हैं। पशु–पक्षियों में प्रजनन एवं संरक्षण–कार्य तक ही परिवार सीमित है। इन प्राणियों में नवजात शिशु को बड़े होने पर अपने माता–पिता का ज्ञान भी समाप्त हो जाता है। पाश्चात्य जनसमाज में भी इस प्रकृतिजन्य परिवार संस्था का कार्य प्रजनन एवं संरक्षण से अधिक आगे नहीं बढ़ सका। पश्चिमी देशों में परिवार का अर्थ पति–पत्नी और बच्चे होता है। बच्चे भी बड़े होकर अपना अलग परिवार बसाकर रहते हैं। उनके माता–पिता वृद्ध अकेले रहते हैं अथवा वृद्धाश्रमों में अपना जीवन–यापन करते हैं। उनके पुत्रादि दूरभाष (टेलीफोन) से कभी–कभी हालचाल पूछ लेते हैं अथवा जन्मदिन आदि पर आश्रम में जाकर उन्हें पुष्पगुच्छ (गुलदस्ता) भेंट कर आते हैं। शरीरान्त का समाचार मिलने पर उनकी अन्तिम क्रिया की व्यवस्था कर देते हैं। बाहर होने पर कोई यह भी नहीं कर पाते। एक मित्र ने एक भारतीय चिकित्सक की, जो संयुक्त राज्य अमेरिका में व्यवसाय करता है, एक घटना सुनायी। एक दिन कुछ लोग एक वृद्ध को दिखाने उसके विरुजालय (डिस्पेन्सरी) पर लाये और बोले– "डॉक्टर, यह व्यक्ति अभी एक मोटर गाड़ी से दुर्घटनाग्रस्त

हो गया है। इसे कृपया देख लें।" परन्तु वह वृद्ध मर चुका था। रात्रि के ग्यारह बज चुके थे। इस डॉक्टर को मृत व्यक्ति की डायरी में उसके पुत्र का फोन नम्बर मिल गया। उस फोन पर उसने कहा– "मुझे अत्यन्त दुख के साथ समाचार देना पड़ रहा है कि आपके पिताजी दुर्घटनाग्रस्त होकर समाप्त हो चुके हैं। उनका शव मेरी डिस्पेंसरी में है। आप उसे ले जाने की व्यवस्था कर लें।" फोन पर उत्तर मिला– "डॉक्टर, तुम भारतीय जान पड़ते हो। क्या तुम प्रातः तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे? तुमने मेरी नींद में इतनी रात्रि में बाधा क्यों डाली?" वह व्यक्ति डॉक्टर पर बहुत रुष्ट हुआ। हम भारत में इस प्रकार के व्यवहार की कल्पना भी नहीं कर सकते।

भारतीय परिवार संस्था का सांस्कृतिक रूप

भारतीय जीवन–पद्धति में परिवार का विकास सांस्कृतिक संस्था के रूप में हुआ है। भारतीय परिवार का कार्य प्रजनन एवं संरक्षण तक ही सीमित नहीं रहा, वरन् परिवार ने मानवीय सम्बन्धों को उच्च सांस्कृतिक धरातल तक पहुँचाया। पुत्र की माता–पिता के प्रति भक्ति एवं कर्तव्य, भाई का बहिन के प्रति पवित्र सम्बन्ध विश्व के अन्य देशों में नहीं मिलता। पूर्वकाल में तो बड़े–बड़े संयुक्त परिवार होते थे। आज भी कहीं–कहीं मिलते हैं। उन बड़े परिवारों में प्रेम, सहयोग एवं निःस्वार्थ भाव देखते ही बनते हैं। प्रेम, सहानुभूति, सहयोग, निःस्वार्थता, ये समाज–जीवन के आवश्यक गुण हैं। इनकी शिक्षा व्यक्ति को परिवार में मिलती है। जो व्यक्ति परिवार के चार व्यक्तियों के साथ रहकर अपना समायोजन नहीं कर सकता, वह समाज के लिये भी भारस्वरूप ही होता है। वास्तव में परिवार समाज–जीवन का लघु रूप होता है जहाँ व्यक्ति के 'स्व' का विस्तार होता है। उसका सुख–दुःख बृहद परिवारी जनों के सुख–दुःख के साथ समरस होता है। इस प्रकार विकास करता हुआ व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र जीवन के साथ भी समरस होता है। भारतीय संस्कृति की समृद्धि में इस परिवार संस्था का अत्याधिक योगदान रहा है। दुर्भाग्यवश आज इस परिवार संस्था का सांस्कृतिक रूप समाप्त होता हुआ दिखाई देता है। पश्चिमी सभ्यता एवं औद्योगीकरण का प्रभाव भारतीय परिवारों पर तीव्र गति से हो रहा है। अतः प्रबुद्ध वर्ग–विशेष रूप से शिक्षा संस्थाओं को इस दिशा में जागरुक होकर भारतीय परिवारों के सांस्कृतिक रूप को विघटित होने से बचाने के लिये प्रयास करने की आवश्यकता है।

परिवार संस्था भारतीय संस्कृति एवं जीवनादर्शों का संरक्षण–केन्द्र है। परिवार में राष्ट्र द्वारा अर्जित सहस्रों वर्षों के अनुभव बालक को सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। परिवार के माध्यम से ही वह अपने समाज की संस्कृति को ग्रहण करता है। परिवार में ही बालक भाषा सीखता है, उसके शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक

विकास की नींव पड़ती है। **बालक का चरित्र, कुशलताएँ, आदतें तथा जीवन की छोटी–से–छोटी बातें परिवार पर निर्भर हैं। वास्तव में बालक के भावी जीवन के बीज संस्कार रूप में परिवार में ही पड़ते हैं।** परिवार बालक की प्रथम पाठशाला, माता उसकी प्रथम गुरु, पिता संरक्षक एवं अन्य बड़े लोग उसके शिक्षकगण होते हैं।

भारतीय समाज–व्यवस्था में गृहस्थाश्रम अन्य तीनों आश्रमों–ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास से श्रेष्ठ माना गया है। गृहस्थाश्रम पर ही अन्य तीनों आश्रमों का जीवन–यापन आधारित रहता था। आज भी धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि स्वयंसेवी संस्थाओं के कार्य गृहस्थों की सहायता से ही चलते हैं। **पाश्चात्य सभ्यता के समान भारतीय गृहस्थ जीवन भोग–विलास एवं कामवासनाओं के तृप्ति के लिये नहीं माना गया है।** राष्ट्रीय प्रजाति की वृद्धि हेतु सन्तान की उत्पत्ति एवं उसे योग्य संस्कारों से युक्त श्रेष्ठ नागरिक बनाकर तैयार करना गृहस्थ जीवन का उद्देश्य है। यह ही उसका धर्म है। पितृ–ऋण से उऋण होने हेतु सन्तान उत्पन्न की जाती है। गर्भाधान संस्कार से लेकर जातकर्म, चूड़ाकरण, उपनयन आदि संस्कारों की भारतीय परम्परा योग्य सन्तान के निर्माण के लिये ही प्रचलित है। बालक राष्ट्र की सम्पत्ति और समाज की अमूल्य धरोहर है, वह माता–पिता की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। स्वस्थ राष्ट्र–जीवन के विकास के लिये माता–पिता की यह भारतीय दृष्टि वर्तमान काल में भी उतनी ही समीचीन है।

परिवार में बड़ों का व्यवहार

उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति हेतु यह आवश्यक है कि हम परिवारों में संस्कारक्षम वातावरण का निर्माण करें। वातावरण की बाल–मानस पर गहरी छाप पड़ती है। माता–पिता एवं परिवार के लोगों के व्यवहार का प्रभाव बालक पर पड़ता है। अतः परिवार में बड़े लोगों को ऐसा कोई व्यवहार नहीं करना चाहिए जिसका बालक के मन पर कुप्रभाव पड़े। कई बार हम अकरणीय कार्य बालक की उपस्थिति में उसे छोटा एवं नसमझ मानकर कर देते हैं, किन्तु नासमझ बालक के मानस पर इसका कुप्रभाव होता है। माता–पिता के परस्पर झगड़े, उस समय प्रयोग किये शब्दों का भयंकर प्रभाव पड़ता है। उसके परिणामस्वरूप बालक में अनेक प्रकार की मनोग्रन्थियों का निर्माण हो जाता है। अनेक बार युवावस्थाकाल में माता–पिता अपने मनोरंजन का अधिक ध्यान रखते हैं, बालक का ध्यान नहीं रखते। विशेष रूप से आजकल रेडियो और दूरदर्शन के कामोत्तेजक कार्यक्रम परिवारों में बालकों के जीवन पर कुसंस्कारों के माध्यम बने हुए हैं। इनसे हमें अपने बच्चों को बचाने की आवश्यकता है।

माता–पिता बच्चों को भरपूर स्नेह दें

आजकल प्रायः देखा जाता है कि माता–पिता व्यावसायिक कार्यों में इतने व्यस्त रहते हैं कि वे, अपने बच्चों के साथ जितना समय व्यतीत करना चाहिए, नहीं कर पाते। परिणामस्वरूप, बच्चे अपने माता–पिता के स्नेह के भूखे रहते हैं और उनमें अनेक मानसिक ग्रन्थियाँ निर्मित हो जाती हैं जो उनके व्यक्तित्व के विकास में बाधक बनती हैं। अनेक माता–पिता, विशेष रूप से पाश्चात्य जीवन से प्रभावित लोग, अपने बच्चों को घर पर सेविका के पास छोड़कर मनोरंजन करने के लिये बाहर पर्याप्त समय व्यतीत करते हैं। इन माता–पिताओं की सन्तानें भी स्नेह से वंचित रहती हैं। उनमें अपने माता–पिता के प्रति ईर्ष्या–ग्रन्थि निर्मित हो जाती है और व्यस्क होने पर वे बच्चे अपने माता–पिता की चिन्ता नहीं करते। अतः माता–पिता को अपने बच्चों के साथ पर्याप्त समय बिताना चाहिए; उन्हें अपना भरपूर प्रेम देना चाहिए तभी उनके बच्चों के व्यक्तित्व का ठीक विकास होगा और बाद में वे भी माता–पिता के प्रति आदर और आत्मीयता का व्यवहार करेंगे। भारतीय परिवारों में इस दृष्टि से विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, अन्यथा हमारी परिवार संस्था भी टूटकर पश्चिमी जीवन का अनुसरण करेगी और वृद्धावस्था में माता–पिता या तो एकाकी जीवन व्यतीत करेंगे अथवा उन्हें भी वृद्धाश्रमों में भर्ती होना पड़ेगा। **बड़े नगरों में, विशेष रूप से अंग्रेजी सभ्यता से प्रभावित भारतीय परिवारों में यह दुर्दशा देखने को मिलती है।**

घरों में संस्कारक्षम सज्जा

प्रायः यह देखा जाता है कि माता–पिता एवं अन्य परिवारीजन अपनी रुचि के अनुसार घरों में सिनेमा की तारिकाओं आदि के चित्र लगाकर कमरों को सजाते हैं। उन्हें यह ध्यान ही नहीं रहता कि बच्चों के मन पर इन चित्रों का क्या प्रभाव होगा। अतः घरों में सुसंस्कार देने वाले महापुरुषों आदि के चित्र लगाने चाहिए। प्रत्येक हिन्दू घर में सांस्कृतिक भारत का मानचित्र एवं ॐ का चित्र अवश्य चाहिए। बैठक आदि कक्षों की सज्जा भारतीय ढंग से इस प्रकार करनी चाहिए जिससे मन पर पवित्रता एवं सादगी के संस्कार जाग्रत हों। आजकल धन का प्रदर्शन करने हेतु भोग–विलास के संस्कार दने वाली सज्जा घरों में अधिक मिलती है। यह उचित नहीं है। बैठक–कक्षों में फर्नीचर आदि सुविधाजनक हो सकते हैं, किन्तु भोग–विलासिता का प्रदर्शन करने वाली व्यवस्था बालकों के जीवन को भी उसी ओर ले जाती है। उसी प्रकार शयन–कक्षों का वातावरण मन में अच्छे विचार उत्पन्न करने वाला चाहिए। आजकल पुत्र–पुत्रियाँ व्यस्क होने के पश्चात् भी उनके माता–पिता 'डबल

बेड' पर एक कक्ष में सोते हैं। उसका प्रभाव बालक–बालिकाओं पर भी होता है और उनका जीवन भी घोर कामुक एवं भोग–प्रधान बनता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार गृहस्थ जीवन संयमयुक्त होना चाहिए। माता–पिता का जिस प्रकार का जीवन होगा, बच्चे भी उसी प्रकार के बनेंगे। अतः हमें घर पर प्रत्येक व्यवहार इस प्रकार करना चाहिए जिससे बालकों के जीवन को सही दिशा एवं सुसंस्कार मिलें।

भोजन पद्धति पवित्रतापूर्ण एवं संस्कारप्रद

भारतीय संस्कृति में भोजन–क्रिया को यज्ञरूप बताया गया है। जिस प्रकार का अन्न खायेंगे, उसी प्रकार का हमारा मन बनता है। यह सिद्धान्त विशुद्ध वैज्ञानिक एवं अनुभव–सिद्ध है। इसी कारण भारतीय पद्धति में भोजन की सामग्री, उसके बनाने एवं भोजन करने की पद्धति के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार हुआ है। उसमें भोजन की स्वच्छता, पवित्रता एवं भोजन करते समय मन में प्रसन्नता एवं सद्विचार आवश्यक बताये गये हैं। अतः घरों में पाकशाला एवं भोजन–कक्ष का वातावरण तद्नुसार होना चाहिए। आजकल पाश्चात्य सभ्यता के अनुरूप भारतीय नगरों में भी पाकशाला एवं भोजन करने की पद्धति पश्चिमी ढ़ंग की होती जा रही है। भारतीयता के प्रेमीजनों को इस पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव को आग्रह–पूर्वक रोकना चाहिए। **सुविधा एवं आधुनिकीकरण बुरा नहीं है, परन्तु स्वच्छता, पवित्रता एवं सद्विचारों के संस्कार देने वाली भोजन–पद्धति को सुविधा और आधुनिकीकरण के नाम पर समाप्त नहीं करना चाहिए।** आज भी दक्षिण भारतीय घरों में भोजन–कक्षों का एवं भोजन करने की पद्धति का वातावरण विशुद्ध भारतीय संस्कारप्रद रूप में प्रचलित है। जहाँ तक सम्भव हो, भोजन सभी परिवारीजनों को सामूहिक करना चाहिए। इससे परिवार में परस्पर प्रेम और आत्मीयता के भावों की वृद्धि होती है। भोजन मन्त्र बोलकर, परमेश्वर को समर्पित कर अर्थात् उसका स्मरण कर, सद्विचारों सहित, एवं प्रसन्नचित्त होकर करना चाहिए। भोजन–कक्ष में सुन्दर चित्रों एवं भोजन के समय पुष्पों एवं सुगन्धित धूपादि से वातावरण पवित्र बनता है। घर के पालतू पशु–पक्षियों आदि का भाग भोजन करने से पूर्व अलग रख देना चाहिए। हमारे यहाँ इसे यज्ञ कहा गया है। इस पद्धति से किया हुआ भोजन अच्छी प्रकार पचेगा, बालकों के मन में सुसंस्कार उत्पन्न होकर शारीरिक एवं सांस्कृतिक विकास समुचित होगा।

घर में ईश्वर–आस्था एवं आध्यात्मिकता का वातावरण

भारतीय संस्कृति के अनुसार घर और परिवार श्रेष्ठ मानव–जीवन का निर्माण करने वाली सांस्कृतिक संस्था है। परिवार वासनाओं की तृप्ति का एवं सुख–भोग

सम्पादन करने का 'क्लब' नहीं है। अतः प्रत्येक घर में भारतीय संस्कृति के अनुरूप वातावरण आवश्यक है, तभी हम परिवार के सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति कर सकेंगे। भारतीय घर में ईश्वर–आस्था एवं आध्यात्मिक वातावरण अपेक्षित है। ईश्वर आस्था एवं आध्यात्मिकता हमारे जीवन के आधार हैं। हम परमेश्वर के जिस रूप में, भाव में, आस्था रखते हों, उसकी आराधना के लिये कक्ष अथवा कोना घर में अवश्य चाहिए, जहाँ परिवार–जन, छोटे–बड़े सभी बैठकर नित्य परमेश्वर का स्मरण कर अपने श्रद्धा–सुमन अर्पित कर सकें।

प्रातःकालीन वेला का भारतीय संस्कृति में विशेष महत्त्व है। सूर्योदय से पूर्व जागरण होकर, परिवार में सभी लोगों को प्रातः स्मरण अथवा अच्छे धार्मिक गीत आदि बोलने चाहिए। इससे आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण होता है। इसका दिनभर के जीवन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। आज भी अनेक घरों में प्रातःकालीन वातावरण पूर्ण आध्यात्मिकता एवं सद्विचारों से ओत–प्रोत रहता है। इसका प्रभाव बालकों के मानस पर बहुत अच्छा होता है। सन्ध्याकाल एवं रात्रिशयन के समय भी इसी प्रकार परमेश्वर का स्मरण करने की एवं आध्यात्मिक विचारों से मन को संस्कारित करने की भारतीय परम्परा है।

प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व सभी परिवारजनों का जागरण, परमेश्वर का स्मरण करना, कम–से–कम प्रातःस्मरण के दो श्लोकों का सस्वर उच्चारण, बिस्तर से नीचे पैर रखते समय धरती माता का हाथों से स्पर्श कर हाथ माथे से लगाकर वन्दना कर और पैर रखने के लिये क्षमा–याचना करना, माता–पिता एवं वरिष्ठ जनों के चरण–स्पर्श एवं प्रणाम करना, तत्पश्चात् शौचादि एवं स्नान के लिये जाना, वास्तव में यही प्रातःकालीन भारतीय परम्परा है।

यह परम्परा हमारे घरों में व्यवस्थित रूप से चलती रहे, इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है क्योंकि आजकल विशेष रूप से सम्पन्न घरों में प्रातः देर से सोकर उठना, बिस्तर पर चाय पीना और समाचार–पत्र पढ़ना, इसी कार्यक्रम से दिनचर्या आरम्भ होती है। इस अभारतीय परम्परा के कारण घरों का वातावरण घोर भोगवादी, नास्तिकता एवं तामसिकता से परिपूर्ण बनता जा रहा है। **व्यक्ति और समाज के जीवन को विनाश की ओर ले जाने वाले घरों के इस वातावरण को हमें जागरुक होकर परिवर्तित करने की आवश्यकता है।**

घरों में संस्कारप्रद पत्र–पत्रिकायें

सम्पन्न घरों में बालकों के लिये अच्छे संस्कार देने वाली पुस्तकों एवं पत्र–पत्रिकाओं की व्यवस्था करनी चाहिए। गीता, रामायण, आदि धार्मिक पुस्तकें प्रत्येक शिक्षित परिवार में रखनी चाहिए। आजकल 'फिल्म फेयर' आदि पत्र–पत्रिकाएँ

पढ़ना सम्पन्न परिवारों में आधुनिकता एवं प्रगति का पर्याय बन गया है। बाल–मानस पर इन पत्रिकाओं के अच्छे संस्कार नहीं होते। माता–पिता को इस ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है।

सांस्कृतिक पर्वों का शुद्ध रूप में आयोजन

भारती राष्ट्र जीवन परंपरा में संस्कृति का जीवन्त रूप पर्वों, उत्सवों, व्रतों, संस्कारों, मेलों, तीर्थयात्राओं के रूप में प्रचलित है। संस्कृति के इस जीवन्त रूप ने मानवीय जीवन के प्राकृतिक रूप का तो उन्नयन किया ही है, उसे आनन्द, उल्लास, सौन्दर्य एवं सामाजिक भावना से ओत–प्रोत कर समृद्ध भी बनाया है। भारतीय राष्ट्र–जीवन की एकात्मता को इस जीवन्त संस्कृति ने ही दृढ़ किया है।

दीपावली और होली के अतिरिक्त अन्य अनेक तीज–त्यौहार, पर्व आदि हमारे पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में आनन्द और उल्लास लेकर आते हैं। एक प्रकार से हमारा सम्पूर्ण वर्ष ही पर्वों, व्रतों और उत्सवों का निरन्तर क्रम है। इन्हीं के साथ समय–समय पर पारिवारिक संस्कारेां और मेलों आदि के उत्सवों से जीवन संगीतमय बन जाता है। वर्ष के आरम्भ में नवरात्रि की दुर्गापूजा, कौमार्य–वन्दना, मातृपूजा आदि आरम्भ होकर अक्षय तृतीया, वट–सावित्री, गंगा–दशहरा, व्यास–पूर्णिमा, रक्षाबन्धन, जन्माष्टमी, गणेश–चतुर्थी, ऋषि–पंचमी, अनन्त–चतुर्दशी, पितृ–पक्ष, शारदीय नवरात्रि, दीपावली, गोवर्धन पूजा, मकर–संक्रान्ति, वसन्त–पंचमी और शिवरात्रि के पर्वों का आनन्द जन–मानस को परिमार्जित करता हुआ होली के लोक पर्व में चरमोत्कर्ष पर पहुँचता है। इसी प्रकार जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह आदि साक्षात् जीवन के संस्कार हैं। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक के सोलह संस्कार जन्म से लेकर मृत्यु–पर्यन्त जीवन को सुन्दर बनाते हैं। संस्कृति के इतने समृद्ध एवं विपुल रूप किसी भी अन्य देश व समाज में कदाचित ही मिलेंगे। अतः संस्कृति के इस रूप का शुद्ध स्वरूप समाज में प्रचलित हो, इस दृष्टि से प्रयत्न करने की आवश्यकता है। ऐतिहासिक तथा अन्य कारणों से पर्वों एवं उत्सव आदि के रूप में अनेक विकृतियां भी पदार्पण कर गयी हैं। परिणामतः इनके प्रति श्रद्धा का भाव कम होता जा रहा है और केवल उपचार मात्र की वस्तु बनते जा रहे हैं। आज बड़े नगरों में पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव बढ़ गया है। परिवार में बच्चों के जन्मदिवस पश्चिमी पद्धति से मनाने की प्रथा चल पड़ी है।

मोमबत्ती बुझाना और 'केक' काटना, 'हैप्पी बर्थ डे टु यू' का गान करना और सगे–सम्बन्धियों से उपहार प्राप्त करना, यह जन्मोत्सव का अभारतीय रूप है। यज्ञ–हवन, पूजादि होकर सम्बन्धित व्यक्ति को वरिष्ठ जनों द्वारा आशीर्वाद दिया जाना एवं दानादि कराना–इस रूप में जन्मोत्सव मनाना

चाहिए। पर्व, व्रत आदि मनाने की परम्परा भी कम होती जा रही है। अतः जागरुक एवं प्रबुद्ध परिवारों को इस दिशा में विचार करने की आवश्यकता है और वे इन पर्वों, व्रतों, उत्सवों आदि को सही रूप में पुनर्जीवित करने की पहल करें।

भारतीय वेश–भूषा एवं मातृभाषा के प्रति स्वाभिमान

दुर्भाग्यवश स्वाधीनता के पश्चात् भारत में पश्चिमी वेश–भूषा एवं अंग्रेजी भाषा का प्रचलन अधिक बढ़ गया है। विवाह–संस्कार जैसे पावन अवसरों पर भी वर कोट–पैण्ट और टाई पहनकर गौरव का अनुभव करते हैं। वर–यात्रा के समय युवक–युवतियाँ पाश्चात्य ढंग के 'डिस्को' आदि नृत्यों में शरीर के अंगों का कामुक प्रदर्शन निर्लज्ज होकर करते हैं। भारतीय संस्कार–परंपरा में सबसे बड़ा विवाह का संस्कार है। विवाह को जीवन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं पवित्र सम्बन्ध का रूप दिया गया है। भारतीय समाज में उसे विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका में प्रतिष्ठित किया गया है। दो व्यक्तियों का विवाह–सम्बन्ध परिवार, कुटुम्ब और समाज के लिये एक अपूर्व उत्सव बन जाता है। विवाह का ऐसा समारोह अन्य किसी देश में नहीं होता। अग्निवेदिका, पुरोहित, वेदमन्त्र, सप्तपदी आदि विवाह को धार्मिक पवित्रता प्रदान करते हैं। स्वजनों का सौहार्द, गीत, वाद्य भोज आदि उसे एक उल्लासपूर्ण उत्सव का रूप देते हैं। विवाह के इस सांस्कृतिक रूप की गरिमा बनाये रखने की आवश्यकता है। विवाह–समारोह पर उत्तरी भारत के परिवारों में ही पाश्चात्य वेश–भूषा का अधिक प्रभाव बढ़ा है। बंगाल एवं दक्षिण भारत में आज भी अंग्रेजी शिक्षित परिवारों में भी परम्परागत भारतीय वेश–भूषा का प्रयोग प्रचलित है। उत्तर भारत में इस असांस्कृतिक परम्परा को रोकने की आवश्यकता है। पर्वों, उत्सवों एवं संस्कारों के अवसर पर धोती–कुर्ता आदि भारतीय वेश–भूषा पहनने में बालक, युवक आदि सभी परिवारीजन गौरव का अनुभव करें, यह चेतना उत्पन्न करने की आवश्यकता है।

प्रायः यह भी देखने को मिलता है कि विवाह के निमन्त्रण–पत्र, नव वर्ष के बधाई–पत्र आदि अंग्रेजी भाषा में छापे जाते हैं और इसे हम प्रगति एवं गौरव का प्रतीक मानते हैं। अनेक परिवार तो ऐसे देखे हैं जिनके घर में एक भी व्यक्ति अंग्रेजी का जानकार नहीं है, किन्तु उन परिवारों में भी विवाह की निमंत्रण पत्रिकाएँ अंग्रेजी भाषा में छपायी जाती हैं। माता–पिता अपने को बच्चों से 'मम्मी–डैडी' कहलाने में गौरव का अनुभव करते हैं। यह अभारतीय कुप्रथा उन परिवारों की मानसिक दासता की मनोवृत्ति की परिचायक है। अतः परिवारों में भारतीय

वेश–भूषा, संस्कार–परम्परा एवं मातृ–भाषा के प्रति स्वाभिमान एवं गौरव का भाव जाग्रत करने हेतु प्रयास करने की आवश्यकता है।

विद्यालय एवं परिवार

विद्यालय एवं परिवार बालकों के विकास में परस्पर पूरक हैं। विद्यालय और परिवार के समुचित सहयोग के अभाव में बालक का वांछित विकास सम्भव नहीं है। विद्यालयों में बालकों के चरित्र–निर्माण के लिये संस्कारक्षम वातावरण आवश्यक है। **किन्तु यदि बालक को विद्यालय के समान ही घर पर भी संस्कारक्षम वातावरण नहीं मिलता तो उसका मन अनेक प्रकार की कुण्ठाओं से ग्रसित हो जाता है।** जिस विद्यालय में बहुत अच्छी ईश–वन्दना होती है, नैतिक विकास हेतु सभी सम्भव प्रयास किये जाते हैं, किन्तु उस विद्यालय के जिन छात्रों के घर पर ईश्वर का कोई स्मरण तक नहीं करता और धार्मिक एवं नैतिक वातावरण से घर पूर्णतः शून्य है, ऐसे बालकों में ईश्वर–आस्था एवं नैतिक चरित्र के संस्कारों का विकास होना कठिन है। अतः विद्यालय और परिवार में परस्पर सहयोग एवं पूरकता परमावश्यक है। विद्यालय एवं परिवार अर्थात् आचार्यों एवं अभिभावकों के परस्पर सहयोग एवं सक्रिय चेतना से समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं अभारतीय परम्पराओं को दूर कर समाज में अपेक्षित परिवर्तन लाया जा सकता है।

परिवारों में संस्कारक्षम वातावरण–निर्माण करने हेतु जिन विषयों का विवेचन ऊपर किया गया है, विद्यालयों के लिये भी ये विषय उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। विद्यालयों में आचार्यों का बच्चों के प्रति प्रेम एवं आत्मीयतापूर्ण व्यवहार अपेक्षित है। **आचार्यों का आदर्शपूर्ण जीवन ही छात्रों के जीवन में प्रेरणा उत्पन्न कर अपनी संस्कृति के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न कर सकेगा।**

आचार्य एवं अभिभावक सम्पर्क

आचार्यों और अभिभावकों का सजीव सम्पर्क अपेक्षित है। आचार्य और अभिभावक परस्पर मिलकर बालक के विकास के सम्बन्ध में विचार–विमर्श करें एवं समस्याओं से परस्पर परिचित रहें तो बालक का वांछित विकास कर सकते हैं। आचार्यों को अभिभावक–सम्पर्क हेतु समय–समय पर घरों पर जाना चाहिए। आचार्यों के घर पर जाने से आत्मीय सम्बन्ध स्थापित होते हैं, साथ ही बालक एवं परिवार के सम्बन्ध में यथेष्ठ प्रत्यक्ष जानकारी मिलती रहती है जो शिक्षा कार्य में सहायक होती है। जिस छात्र के घर पर संपर्क हेतु जाते हैं, उस छात्र का मनोविज्ञान–विषयक अध्ययन, उसकी प्रकृति, स्वभाव, आदतें, शिक्षा–कार्य में स्थिति, खेलों में रुचि आदि विषयों

की समुचित जानकारी आचार्य को होना अपेक्षित है, अन्यथा अभिभावक सम्पर्क के समय अनावश्यक विषयों पर ही चर्चा होगी। आचार्य को अभिभावकों से बालक के विकास में क्या अपेक्षाएँ हैं, उस पर स्पष्ट विचार–विमर्श होना चाहिए। इसी प्रकार परिवार में संस्कारक्षम वातावरण के बिन्दुओं पर सुझाव दे सकने की स्थिति आचार्य की चाहिए। ये सब बातें आचार्य और अभिभावक के परस्पर आत्मीयता पूर्ण सम्बन्धों पर ही निर्भर है।

अभिभावकों को भी आचार्यों के प्रति सम्मानपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। विद्यालय से अपेक्षाओं को अत्यन्त शालीनतापूर्वक आचार्य के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए। अनेक परिवारों में आचार्यों को समुचित सम्मान प्रदान नहीं किया जाता। इस कारण आचार्य उन परिवारों में सम्पर्क हेतु जाने में उपेक्षा करते हैं, जो कि स्वाभाविक है। आचार्य और अभिभावक, दोनों का उद्देश्य बालक का हित है। यह ध्यान रखकर परस्पर विचार–विमर्श एवं व्यवहार होना चाहिए।

अभिभावकों को भी समय–समय पर विद्यालय जाना चाहिए और प्रधानाचार्य एवं आचार्यों से सम्पर्क सीपति कर बालक के विकास के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करते रहना चाहिए। प्रायः अभिभावक बालक के प्रवेश के समय ही विद्यालय जाते हैं और समझते हैं कि अब बालक के विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व विद्यालय का है। यह धारणा उचित नहीं है। वास्तव में बालक के विकास का अधिक भार तो अभिभावक पर ही होता है, क्योंकि बालक विद्यालय में केवल पांच–छः घण्टे ही रहता है। अधिकांश समय तो बालक घर पर ही रहता है, अतः घर पर उसके विकास की समुचित व्यवस्था एवं अभिभावकों द्वारा देख–रेख आवश्यक है। इसलिये अभिभावकों का विद्यालय–संपर्क अपेक्षित है।

अभिभावक सम्मेलन

विद्यालय में समय–समय पर अभिभावक–सम्मेलन का आयोजन आवश्यक है। इस प्रकार के सम्मेलनों में आचार्य और अभिभावक मिलकर सामूहिक विषयों पर चिन्तन एवं विचार–विमर्श कर सकते हैं। परिवारों में संस्कारक्षम वातावरण के विषयों पर चर्चा एवं क्रियान्वयन के बिन्दु इन सम्मेलनों में अभिभावक स्वयं निश्चित करें तो उत्तम रहता है। बालकों के शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास में अभिभावकों का योगदान, परिवारों में संस्कृति की सुरक्षा, विद्यालयों से अपेक्षाएँ आदि विषयों पर चर्चा इन सम्मेलनों में होनी चाहिए। कभी–कभी योग्य विद्वान व्यक्ति से विषयों का प्रतिपादन कराना प्रभावकारी होता है। कभी–कभी कक्षानुसार अभिभावकों के सम्मेलन भी उपयोगी रहते हैं। कक्षानुसार सम्मेलन में छोटा समूह होने से विषयों पर परिचर्चा खुलकर और अच्छी होती है।

सांस्कृतिक परम्परा की रक्षा

स्वाधीनता के बाद राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थ इतने प्रबल हो गये हैं कि संस्कृति का कोई महत्त्व नहीं रहा है। वह श्रद्धास्पद न रहकर उपचार की वस्तु रह गयी है। समाज में राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से समृद्ध लोगों का प्रभाव बढ़ रहा है। हमारी परिवार–संस्थाएँ, जो आज तक श्रद्धापूर्वक संस्कृति की रक्षा करती रहीं, अब उससे उदासीन हो रही हैं। शिक्षा और समाज में पश्चिमी प्रभाव बढ़ रहा है। पर्वों एवं उत्सवों की सांस्कृतिक परम्परा का रूप क्षीण हो रहा है। अपनी इस संस्कृति को खोकर हमारा पारिवारिक जीवन कितना शून्य हो जायेगा, इसकी कल्पना हम नहीं कर सकते। संस्कृति जीवन की समृद्धि है। किन्तु **शिक्षा और परम्परा के द्वारा सुरक्षित रहकर ही वह हमारे पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन को सुन्दर एवं सुखी बना सकती है।**

12

परीक्षा एवं मूल्यांकन

परीक्षा–प्रक्रिया

परीक्षा शिक्षण–प्रक्रिया का अभिन्न अंग है। **यह शिक्षण का साधन है। किन्तु दुर्भाग्यवश आज परीक्षा शिक्षण का उद्देश्य बन गई है।** विद्यार्थी परीक्षा उत्तीर्ण करने हेतु अध्ययन करते हैं। शिक्षक भी छात्रों को परीक्षा उत्तीर्ण कराने के उद्देश्य से पढ़ाते हैं। अर्थात् संपूर्ण शिक्षण–प्रक्रिया परीक्षोन्मुख बनकर रह गयी है। सही शिक्षण के लिये परीक्षा को शिक्षण का साधन मानकर चलना आवश्यक है। परीक्षा के माध्यम से छात्र द्वारा अर्जित ज्ञान के स्तर का मापन होता है जिससे छात्र को अपनी स्थिति का ज्ञान हो जाता है और तदनुसार वह अपने अध्ययन एवं अभ्यास की गति और पद्धति में सुधार ला सकता है। शिक्षक को भी परीक्षा के माध्यम से अपने छात्रों की स्थिति ज्ञात हो जाती है और वह अपनी शिक्षण–पद्धति में सुधार ला सकता है तथा आवश्यकतानुसार छात्रों की व्यक्तिशः सहायता भी कर सकता है। अतः परीक्षा का शिक्षण–प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान है।

विभिन्न प्रकार की परीक्षाओं के द्वारा छात्र की विद्वत्ता का, उसकी क्रियाशक्ति का, उसकी सामान्य योग्यता का, उसकी मेधा–शक्ति का, स्मृति का, बुद्धिकौशल और उसकी वाक्चातुरी का परीक्षण किया जाता है। छात्र की बुद्धि और उपलब्धि का परीक्षण करने के लिये अनेक प्रकार के बाह्य परीक्षण (ऑब्जेक्टिव टेस्ट) प्रचलित हैं, जिनके माध्यम से केवल अध्यापक ही नहीं अपितु छात्र भी अपनी प्रगति, उपलब्धि और अर्जित ज्ञान का उचित परीक्षण कर सकते हैं।

मूल्यांकन का क्षेत्र

मूल्यांकन–प्रक्रिया का क्षेत्र व्यापक है। परीक्षण मूल्यांकन–प्रक्रिया का एक भाग है। वर्तमान शिक्षाशास्त्रियों का शिक्षण में मूल्यांकन–प्रक्रिया को अपनाने पर अधिक बल है। यह सभी का अनुभव है कि कागज़–पेन्सिल के माध्यम से जो परीक्षण किये जाते हैं, उनके द्वारा छात्रों की शिक्षा–सम्बन्धी उन्नति और व्यवहार के बहुत सीमित

भाग का मापन होता है। इसलिये बाह्य परीक्षण को महत्व दिया गया है। किन्तु साथ ही छात्र के सर्वांगीण लेखा, व्यक्तिगत अध्ययन, साक्षात्कार, कक्षा–विवरण आदि के माध्यम से उसके व्यवहार एवं प्रगति का मूल्यांकन करने की पद्धति प्रचलित हुई, जो शैक्षिक–प्रक्रिया एवं उसके उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक सिद्ध हुई है।

मूल्यांकन का प्रमुख लक्ष्य यह देखना है कि पाठ्यक्रमों के निर्धारित उद्देश्यों की किस सीमा तक प्राप्ति हुई है। यह प्रक्रिया स्वभावतः शैक्षिक अनुभवों और शिक्षण की उन विधियों से सम्बद्ध है जो ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में प्रयुक्त की गयी हों। मूल्यांकन–प्रक्रिया से छात्रों को अध्ययन के लिये मार्गदर्शन एवं प्रेरणा प्राप्त होती है एवं शक्तियों और दुर्बलताओं का ज्ञान होता है।

स्व–मूल्यांकन

शिक्षक शिक्षण–प्रक्रिया के माध्यम से निर्धारित पाठ्यक्रम को अपनाकर शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु प्रयास करता है। उसे निरन्तर स्व–मूल्यांकन करते रहना चाहिए कि पाठ्यक्रम का जो संयोजन किया गया है वह उचित है या नहीं और उसकी प्रकृति के अनुसार छात्रों की अपेक्षित प्रगति हो रही है या नहीं। यदि नहीं हो रही है तो पाठ्यक्रम के रूप में उसके संयोजन और प्रयोग में क्या परिवर्तन अपेक्षित और वांछनीय है। साथ ही शिक्षक को अपने शिक्षण की पद्धति का भी मूल्यांकन करते रहना चाहिए कि वह उचित है या नहीं, तथा आवश्यकतानुसार उसमें भी सुधार या परिवर्तन करना चाहिए। शिक्षक का यह भी कर्त्तव्य है कि वह इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न करे और ऐसी व्यवस्था करे कि स्वयं छात्र भी अपनी प्रगति और बौद्धिक विकास की गति का स्वयं मूल्यांकन कर सकें। शिक्षा के क्षेत्र में इस स्वमूल्यांकन की व्यवस्था को अत्यधिक महत्व प्रदान किया जा रहा है। जीवन की प्रत्येक क्रिया का, विशेषतः ज्ञानार्जन–क्रम का मूल्यांकन करते रहना चाहिए, जिससे एक ओर यह ज्ञात होता चले कि हमारी कितनी प्रगति हो रही है और दूसरी ओर प्रगति में बाधक सिद्ध होने वाले तत्वों का निराकरण करके तद्नुसार पाठ्यक्रम में अथवा–शिक्षण योजना में उचित परिवर्तन किया जा सके।

मूल्यांकन सर्वांगीण एवं सतत् प्रक्रिया

1. सर्वांगीण मूल्यांकन

मूल्यांकन की प्रक्रिया ऐसी अपनायी जाय जिससे शिक्षण के सभी उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में हुई प्रगति का ज्ञान हो सके।

शिक्षा का उद्देश्य बालक का सर्वांगीण–अर्थात् शारीरिक, व्यावसायिक, मानसिक,

नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास माना गया है। अतः मूल्यांकन की प्रक्रिया ऐसी अपनायी जाये जिससे व्यक्तित्व के इन सभी पक्षों के विकास का मूल्यांकन होता चले। शिक्षक प्रायः मानसिक विकास के मूल्यांकन पर अपना प्रयास सीमित कर देते हैं तथा अन्य पक्षों की उपेक्षा कर देते हैं। इसके परिणामस्वरूप बालक का सर्वांगीण विकास उपेक्षित रहता है। अतः शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु शिक्षक को सर्वांगीण मूल्यांकन करते रहना चाहिए।

दूसरी बात, जो सर्वांगीण मूल्यांकन के लिये आवश्यक है, वह है पाठ्य–विषय के शिक्षण के सभी उद्देश्यों की प्राप्ति हुई है या नहीं, इसका मूल्यांकन करना। पाठ्य–विषय के तथ्यों से सम्बन्धित जानकारी छात्र को हुई या नहीं, पाठ्य–विषय के मूल सिद्धान्त या तत्व को उसने समझा है या नहीं तथा उसकी अभिवृत्ति का विकास एवं स्वाध्याय के क्षेत्र में छात्र ने क्या उपलब्धि की है, शिक्षण के इन समस्त पदों का मूल्यांकन करना सफल शिक्षण के लिये अपरिहार्य है।

2. सतत मूल्यांकन

मूल्यांकन शिक्षण–प्रक्रिया का अभिन्न अंग है, अतः प्रत्येक क्षेत्र में छात्रों की प्रगति का सतत मूल्यांकन होते रहना चाहिए। छात्रों को ज्ञान–प्राप्ति के बाद यथाशीघ्र ज्ञान का परिणाम मिलना चाहिए। उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि उन्होंने क्या सीखा है और कितना सीखा है तथा कितनी अच्छी तरह सीखा है। अध्यापक को भी अपनी शिक्षण–प्रक्रिया का मूल्यांकन प्रत्येक शिक्षण–इकाई समाप्त होने के पश्चात् करना चाहिए, तभी वह अपनी शिक्षण–प्रक्रिया के सम्बन्ध में अपेक्षित विचार कर सकेगा। वार्षिक अथवा अर्द्धवार्षिक या मासिक मूल्यांकन करने से मूल्यांकन का सही उपयोग नहीं हो सकता। अतः मूल्यांकन शिक्षण के साथ–साथ सतत् प्रक्रिया के रूप में चलते रहना चाहिए। अनेक शिक्षाविद्ों ने शिक्षण के पदों में मूल्यांकन को भी एक पद के रूप में माना है।

मूल्यांकन की पद्धति

सामान्यतः मूल्यांकन की निम्नलिखित पद्धतियां प्रचलित हैं।

1. लिखित परीक्षा के द्वारा मूल्यांकन करना। इसके लिये निबन्धात्मक, लघु निबन्धात्मक तथा विविध प्रकार के वस्तुनिष्ठ परीक्षण प्रचलित हैं।

2. छात्र द्वारा किये गये निर्माण–कार्य या उत्पादक कार्य का विश्लेषण करके मूल्यांकन करना।

3. कक्ष में प्रश्नावली के द्वारा अथवा विचार–मंथन करके मूल्यांकन करना।

4. छात्र के व्यवहार का निरीक्षण करके मूल्यांकन करना। व्यवहार का निरीक्षण

अनौपचारिक ढ़ंग से भी किया जाता है और किसी विशिष्ट व्यवहार के लिये विशेष परिस्थिति का योजनाबद्ध निर्माण करके व्यवस्थित निरीक्षण भी किया जाता है।

5. पारस्परिक विचार–विमर्श के द्वारा एवं व्यक्तितः अथवा समूह में साक्षात्कार के द्वारा मूल्यांकन करना।

मूल्यांकन–पद्धति की विशेषताएँ

मूल्यांकन की पद्धति को उपयोगी बनाने के लिये उसमें निम्नलिखित विशेषताओं का होना आवश्यक है–

1. मूल्यांकन निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के विश्वसनीय और ठोस प्रमाण देने वाला होना चाहिए।

2. उसे क्रमशः कई उद्देश्यों और फिर सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को अपनी सीमा में लेने वाला होना चाहिए।

3. यह बात महत्वपूर्ण है कि विद्यार्थी मूल्यांकन के प्रति गलत दृष्टिकोण अपनाने की अपेक्षा उसे अपनी उपलब्धियों में सुधार का साधन समझकर सही रूप में ग्रहण करे। पाठ्यक्रम के सभी विषयों में एक ही समय उत्तीर्ण होने पर बल देने और अनुत्तीर्ण होने के भय के कारण बहुत से विद्याथी असंतुलित हो जाते हैं और उनका विकास अवरुद्ध हो जाता है। अतः मूल्यांकन में लचक होनी चाहिए। मूल्यांकन की विधि ऐसी होनी चाहिए कि विद्यार्थी कण्ठस्थ करने की प्रवृत्ति न अपनाये और अपने ज्ञान का उपयोग नवीन परिस्थितियों एवं समस्याओं के समाधान ढूँढ़ने में कर सके। छात्र तब तक आलोचनात्मक चिन्तन, सर्जनात्मकता और मूल्यात्मक–निर्णय जैसी ज्ञान की उच्च सीमाओं तक पहुँचने के लिये प्रयास नहीं करेंगे, जब तक कि ज्ञान को उपयुक्त अनुभवों से विकसित करने और उसका उचित मूल्यांकन करने की व्यवस्था नहीं की जायेगी। जहां विद्यालयों में केवल शुष्क शैक्षिक अनुभव दिये जाते हैं या मूल्यांकन की विधि रटने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है, वहां समस्त शैक्षिक उद्देश्य निरर्थक हो जाते हैं।

4. प्राथमिक स्तर पर बालक छोटे और कोमल होते हैं। इस स्तर पर उन पर मूल्यांकन की कोई लचकहीन प्रणाली लागू नहीं की जा सकती। अतः मूल्यांकन शिक्षण–प्रक्रिया में ही सन्निहित होना चाहिए। प्रत्येक छात्र का लगातार प्रगति का लेखा रखने की प्रणाली का विकास किया जाना चाहिए। प्रोन्नति का आधार वर्ष के अन्त में ली जाने वाली परीक्षा नहीं होनी चाहिए। सम्पूर्ण सत्र में प्रगति के लेखे के आधार पर ही बालक को अगली कक्षा में चढ़ाना चाहिए। कुछ शिक्षा शास्त्रियों का मत है कि प्राथमिक स्तर पर सामान्यतः सभी छात्रों को अगली कक्षा में चढ़ा देना चाहिए। फिर भी उन छात्रों पर विशेष ध्यान देने की व्यवस्था करनी चाहिए जो सन्तोषजनक प्रगति नहीं करते।

5. प्रत्येक क्षेत्र में विद्यार्थियों की प्रगति का सतत् मूल्यांकन एक नियमित कार्यपद्धति पर आधारित होना चाहिए। माध्यमिक एवं आगे के स्तर के विद्यार्थियों की विभिन्न विषयों में प्रगति के मूल्यांकन के लिये लिखित परीक्षाएँ भी होनी चाहिए। किन्तु परीक्षण की विधि केवल निबन्धात्मक परीक्षाओं की ही नहीं होनी चाहिए। उसके लिए अलग–अलग विभिन्न पद्धतियां अपनानी चाहिए। प्रायोगिक परीक्षाएं होनी चाहिए। निरीक्षण, जांच सूचियां, मौखिक परीक्षाएँ, विद्यार्थियों द्वारा वस्तुओं के मूल्यांकन भी इस परीक्षण के अतिरिक्त साधनों और विधियों के रूप में प्रयोग करने चाहिए। यदि आवश्यक हो तो वार्षिक परीक्षा भी ली जा सकती है, किन्तु वर्ष में किये गये अन्य मूल्यांकनों की तुलना में इस पर अधिक बल नहीं देना चाहिए। वास्तव में किसी भी परीक्षा में कोई उत्तीर्ण अथवा अनुत्तीर्ण नहीं होना चाहिए। उनके स्तर को सूचित करने वाले अक्षरों (क, ख, ग, घ, ड) का प्रयोग किया जा सकता है। इस मूल्यांकन का आगामी शिक्षा में उपयोग महत्वपूर्ण है। विद्यार्थियों को उनकी परीक्षण की गयी उत्तर–पुस्तिकायें लौटाकर उनकी अशुद्धियों पर बातचीत करनी चाहिए तथा उन्हें और अच्छे ढ़ंग से कार्य कर सकने के लिये मार्गदर्शन देना चाहिए। यदि कोई विद्यार्थी अपने किसी मूल्यांकन में अपना स्तर सुधारना चाहता है तो उसे उस विषय में पुनः परीक्षा देने का अवसर दिया जाना चाहिए।

6. प्रत्येक विषय में विद्यालय द्वारा किये गये संचयित मूल्यांकन का अभिलेख (रिकॉर्ड) बनाया जाना चाहिए और इस प्रकार के मूल्यांकन में छात्र की समस्त गतिविधियों की प्रगति का लेखा होना चाहिए तथा विद्यालय छोड़ने के समय यह लेखा विद्यार्थी को प्रमाण–पत्र के रूप में देना चाहिए।

निष्कर्ष

मूल्यांकन का प्रयोग पाठ्यक्रम के विकास के सम्बन्ध में मुख्यतः उपयोगी होता है। किसी एक अवस्था के बालकों को लेकर उनका मूल्यांकन करने पर ही यह निश्चित करना सम्भव हो पाता है कि अमुक अवस्था के बालकों को कौन से विषय, किस सीमा तक, किस पद्धति से सिखाये जायें। अतः मूल्यांकन का शिक्षण–प्रक्रिया में सतत् प्रयोग नितान्त आवश्यक हैं इसका निरन्तर प्रयोग करते रहने से पाठ्यक्रम में नवीन विषय जोड़ने, पुराने विषय कम करने, घटाने या बढ़ाने का नियोजन भी किया जा सकता है। अतः शिक्षक को निर्धारित पाठ्यक्रम का दास न बनकर उसे इस प्रकार नियोजित करते रहना चाहिए कि व्यापक रूप से छात्रों का हित और उनका सर्वांगीण विकास हो, जिसका अनुभव और मूल्यांकन स्वयं छात्र भी कर सकें और अभिभावक भी।

13

शिक्षक या आचार्य

शिक्षण–प्रक्रिया में शिक्षक का महत्त्वपूर्ण स्थान

शिक्षण–प्रक्रिया में शिक्षक का स्थान महत्त्वपूर्ण एवं सर्वोपरि है। शिक्षण–पद्धति, पाठ्यक्रम, भवन आदि साधन–सामग्री की व्यवस्था कितनी भी उत्तम क्यों न हो, किन्तु यदि शिक्षक पद पर आसीन व्यक्ति चरित्रवान् एवं योग्य नहीं है तो उक्त सम्पूर्ण व्यवस्थाएँ निरर्थक हो जाती हैं। शिक्षक यदि योग्य रहा तो वह भौतिक साधनों के अभाव में भी विद्यार्थियों को उत्तम शिक्षा प्रदान कर सकता है। अंग्रेजों के शासन काल में दूषित शिक्षा–प्रणाली के होते हुए भी जिस प्रकार के जाज्वल्यमान विद्यार्थियों का निर्माण संभव हुआ, वह आज स्वतन्त्र भारत में सर्व साधन सुलभ होते हुए भी नहीं हो पा रहा है। इसका मूल कारण शिक्षक ही हैं।

भारतीय जीवन प्रणाली में तो शिक्षक या गुरु का स्थान परमेश्वर के समकक्ष माना गया है। अनेक विचारकों ने तो गुरु को परमेश्वर से भी बड़ा माना है, क्योंकि गुरु ही परमेश्वर की प्राप्ति का मार्ग बताता है। शिक्षक या गुरु एक पाण्डित्यपूर्ण एवं भौतिक शरीरधारी व्यक्ति नहीं है, अपितु वह एक आध्यात्मिक व्यक्तित्व है जो अपने आत्मा के प्रकाश से विद्यार्थी अर्थात् अपने शिष्य के अन्तःकरण को उसी प्रकार आलोकित करता है जैसे एक दीप से दूसरा दीप आलोकित होता है। अतः भारतीय शैक्षिक चिन्तन में शिक्षक का पद महान श्रद्धास्पद एवं समाज में प्रतिष्ठा की दृष्टि से सर्वोपरि माना गया है।

भारतीय शिक्षा के इतिहास में शिक्षक के पद को गौरवान्वित करने वाले महान तपस्वी ऋषियों की परम्परा रही है जिनके सम्मान में सम्राट भी अपना सिंहासन छोड़कर खड़े हो जाते थे। वर्तमान काल में भी भारतीय संस्कृति एवं आदर्शों के अनुरूप शिक्षा के स्वरूप को यदि विकसित करना है तो शिक्षक के पद को हमें वही प्रतिष्ठा प्रदान करनी होगी, भले ही भावना की अभिव्यक्ति के रूप भिन्न हों। हमें यह दृष्टिकोण अपनाना होगा कि शिक्षक एक व्यक्ति नहीं, वरन् पद एवं सस्था है। शिक्षकों को भी अपना जीवन इस पद की गरिमा के अनुरूप ढालना होगा।

स्वयं के आचरण के द्वारा शिक्षा

शिक्षक का कार्य विषय–शिक्षण तक ही सीमित नहीं है, अपितु वह अपने आचरण के द्वारा छात्रों में मानवता का निर्माण करता है। इसीलिये वह आचार्य कहलाता है। आचार्य शब्द शिक्षक या अध्यापक से अधिक व्यापक है। छात्र को आदर्श व्यक्ति चाहिए, जिसके प्रत्यक्ष आचरण के अनुरूप वह स्वयं को सहज भाव से ढाल सके। भारतीय परंपरा में ऐसे व्यक्ति के लिये ही 'आचार्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। आचार्य के लिये उपदेश का विधान बाद में है, आचरण की संहिता पहले निर्धारित है। आचरण से ही वह आचार्य कहलाता है, उपदेश तो उसका परवर्ती एवं भौतिक अधिकार मात्र है। आचार्य स्वयं के श्रेष्ठ आचरण के द्वारा विद्यार्थी के लिये आदर्श बनता है एवं उसके जीवन का निर्माण करता है। सरस्वती शिशु मन्दिरों एवं विद्यामन्दिरों में शिक्षक को 'आचार्य' शब्द से ही सम्बोधित किया जाता है, जो कि समीचीन है।

शिक्षा से तात्पर्य केवल पढ़ाई–लिखाई अथवा विभिन्न विषयों की जानकारी मात्र नहीं है। इसमें पढ़ाई की अपेक्षा चरित्र के विकास, व्यक्तित्व के गठन और जीवन के निर्माण का अधिक महत्त्व है। अतः इसके लिये विषय के शिक्षक नहीं, वरन् आचार्य की आवश्यकता है। आचार्य अपने अनुकरणीय एवं पवित्र आचरण के कारण विद्यार्थी के लिये आदर्श बनता है और विद्यार्थी के लिये भी 'भृंग–कीट–न्याय, से वैसा ही बनने की कामना करता है। यह कामना उसके चरित्र की शक्ति के कारण उसका अमोघ उपदेश बनकर विद्यार्थी में संक्रमित होती है।

आचार्य विद्यार्थी का हितचिन्तक, पथप्रदर्शक एवं मित्र

आचार्य अपनी विद्या, कौशल, प्रेम एवं सहानुभूति के द्वारा विद्यार्थी के जीवन का निर्माण करता है। वह बतलाता है कि किस मार्ग से चलकर जीवन का कल्याण एवं विकास हो सकता है, जीवन की कौन सी दिशा हानिकारक है। उसकी शिक्षाएँ सच्चे मित्र के समान आपत्तियों से बचाती हैं और उसकी दी हुई विद्या विद्यार्थी के गाढ़े समय में काम आती है। यही कारण है कि आचार्य अपने विद्यार्थियों का शिक्षक ही नहीं, अपितु हितचिन्तक, पथप्रदर्शक एवं मित्र होता है। इन गुणों के कारण ही वह विद्यार्थियों का विश्वास एवं उनकी श्रद्धा अर्जित करता है। विद्यार्थी उससे अपनी भली–बुरी बात छिपाते नहीं हैं और उसकी सम्मति पर विश्वास करते हैं। इसी कारण आचार्य विद्यार्थियों के चरित्र–निर्माण के महत् कार्य को करने में सफलता प्राप्त करता है।

आचार्य–विद्यार्थी एक आध्यात्मिक सम्बन्ध

शिक्षा ज्ञान का उपार्जन है। आचार्य के सहयोग से ही विद्यार्थी ज्ञान के मार्ग में आगे बढ़ता है। आचार्य का सहयोग श्रद्धा और सेवा के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। श्रद्धा और सेवा का मूल स्रोत विनय है। अहंकारशून्यता की स्थिति में ही विद्यार्थी में विनयशीलता आती है। विनय पर आश्रित श्रद्धा का भाव आचार्य के ज्ञान–कोष के द्वार खोलता है। विद्या आचार्य की ओर से विद्यार्थी के प्रति आत्मदान है। आचार्य अपनी आत्मा के प्रकाश से विद्यार्थी के अन्तःकरण को प्रकाशित करता है। आचार्य और विद्यार्थी के आध्यात्मिक सम्बन्धों की भूमि पर ही यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है। **विद्या का व्यवसाय नहीं हो सकता। इसीलिये कोई धनवान केवल धन के बल पर विद्यावान् नहीं बन सकता।** दूसरी ओर ज्ञान को अपनी सम्पत्ति मानने वाले आचार्य में यदि अहंकार बढ़ता है तो वह ज्ञान के विकास और प्रदान–दोनों का बाधक बन जाता है। अतः विद्यार्थी के साथ–साथ आचार्य को भी अहंकारशून्य होना आवश्यक है। दोनों में अहंकार रहने पर द्वेष बढ़ता है। इससे बचने के लिये ही बृहदारण्यक उपनिषद् के शान्तिपाठ में "मा विद्विषावहै" के द्वारा प्रार्थना की गई है। अहंकार और द्वेष से रहित होने पर ही आचार्य और विद्यार्थी तेजस्वी बनते हैं। अतः ज्ञानार्जन एवं जीवन का सही विकास आचार्य और विद्यार्थी के आध्यात्मिक सम्बन्धों की भूमि पर ही सम्पन्न होता है।

आचार्य की विद्वता

आचार्य शब्द विद्वान का बोधक भी है। अच्छे आचार्य को सभी विषयों का सामान्य ज्ञान होना चाहिए, किन्तु अपने विषय पर तो उसका पूर्ण अधिकार होना ही चाहिए। विद्यार्थी अपने आचार्य की बात को वेदवाक्य मानते हैं। ऐसी अवस्था में यदि छिछले ज्ञान वाला अध्यापक किसी भी अवस्था में विद्यार्थियों के मन में भ्रामक सिद्धान्त का बीज बो दे तो स्थायी रूप से वह भ्रामक विचार जड़ पकड़ लेता है जिसे दूर करने के लिये भारी परिश्रम और गहरे अभ्यास की आवश्यकता पड़ जाती है। छिछली विद्या–बुद्धि वाला आचार्य सदा विद्यार्थियों की अश्रद्धा का पात्र तथा उनके व्यंग्य–बाणों का लक्ष्य बना रहता है। प्रारम्भिक कक्षाओं में तो नहीं, परन्तु उच्च कक्षाओं में ऐसे अध्यापक की बड़ी दुर्गति होती है। अतः स्वाभिमानी एवं सफल आचार्य के लिये अपने विषय का पण्डित होना परमावश्यक है और यह तभी सम्भव है जब आचार्य अध्ययनशील हो, नवीनतम ज्ञान से परिचित हो और सदा तैयारी करके कक्षा में जाय।

शिक्षण–कला में निपुणता

आचार्य के अपने विषय का केवल विद्वान होने से ही कार्य पूर्ण नहीं होता, उसमें विषय को विद्यार्थियों को समझाने की कुशलता एवं निपुणता भी आवश्यक है। उसका विषय–प्रस्तुतिकरण का ढंग आकर्षक होना चाहिए जिससे पूरी कक्षा तत्काल एकाग्र और आकृष्ट होकर उसमें योग देने के लिये प्रस्तुत हो जाय। कक्षा में सजीवता लाने के लिये उसे अनेक प्रकार के वाच्य विधान, दृश्य विधान, कथा–कहानी तथा चुटकुले, चित्र आदि का पर्याप्त भण्डार अपने पास रखना चाहिए। छोटे, स्पष्ट, सुबोध, सुघटित, संगत और उपयुक्त प्रश्नों के माध्यम से विद्यार्थियों को नवीन ज्ञान प्राप्त कराने के लिये और उनकी अभिव्यंजना–शक्ति विकसित करने के लिये प्रयास करना चाहिए। छात्रों से शुद्ध, सार्थक, संगत, आवश्यक, प्रासंगिक और उचित उत्तर निकलवाकर अशुद्ध उत्तरों का परिष्कार करते चलना चाहिए। आचार्य को एक कुशल संगठक एवं संयोजक भी होना आवश्यक है, तभी वह विद्यालय में सहगामी क्रियाकलापों के आयोजन सफलतापूर्वक कर सकता है और विद्यार्थियों में रुचि एवं उत्साह का संचार कर सकता है। बालक के विकास में इन सहपाठ्य क्रियाकलापों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार आचार्य को शिक्षण–कला में पूर्ण निपुण होना आवश्यक है, तभी वह अपने कर्तव्य का सही ढंग से पालन कर सकने में समर्थ होगा।

आचार्य का प्रभावशाली व्यक्तित्व

प्रभावशाली व्यक्तित्व के अन्तर्गत गुण, स्वभाव, अभ्यास, चरित्र, विद्या और बुद्धि के साथ–साथ वपुष्मत्ता भी अपेक्षित है। वपुष्मत्ता या शारीरिक वैभव ब्रह्मचर्य–पालन एवं शारीरिक सौष्ठव के प्रति सचेत रहने से सम्भव होता है। संयम एवं तप से ही व्यक्तित्व प्रभावशाली एवं आकर्षक बनता है। आजकल की तरह रंग–बिरंगे आकर्षक परिधान धारण करने से आचार्य का व्यक्तित्व शोभायमान नहीं होता।

आचार्य को मानसिक शान्ति, आत्म–विश्वास, प्रसन्नता, हँसमुखता, निर्भयता और स्नेहयुक्त व्यवहार के साथ सदा सब परिस्थितियों में शान्त चित्त और धैर्यवान रहना चाहिए। ये गुण ही उसके वयक्तित्व को समृद्ध बनाते हैं। उसे अपनी वेश–भूषा भी सरल, स्वच्छ, सुघड़ बनाये रखनी चाहिए, क्योंकि वेश–भूषा का भी छात्रों पर प्रभाव पड़ता है।

आचार्य राष्ट्र–निर्माता एवं समाज के पथ–प्रदर्शक

आचार्य पर नवीन पीढ़ी के जीवन के गठन का गुरुतर दायित्व है। उसकी प्रेरणा एवं मार्गदर्शन में विद्यार्थी ज्ञानार्जन करते हैं, अपने चरित्र का निर्माण करते

हैं तथा देशभक्ति, समाज–प्रेम, एवं अपनी संस्कृति के संस्कारों के माध्यम से अनेक ऐसे सद्‌गुणों का विकास करते हैं जो राष्ट्र–जीवन के लिये पोषक हैं। विद्यार्थी ही देश के भावी नागरिक एवं राष्ट्र रूपी नौका के कुशल नाविक बनते हैं। **महान् आचार्यों की परम्परा ही श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण करती है। इस प्रकार आचार्य राष्ट्र–निर्माता होते हैं।**

आचार्यों के सम्पर्क में विद्यार्थी वर्ग ही नहीं आता, अपितु अभिभावकों एवं समाज के सभी प्रमुख घटकों से उनका सम्पर्क आता है। आचार्य अपने आचार–विचार से समाज को उचित दिशा एवं प्रेरणा प्रदान करते हैं। समय–समय पर आवश्यकतानुसार अपने विचारों को लेखों एवं ग्रन्थों के माध्यम से प्रकट करके अथवा प्रवचन के द्वारा समाज को सही मार्ग–दर्शन एवं नेतृत्व प्रदान करते हैं। भारतीय इतिहास में समाज को नेतृत्व प्रदान करने वालों की परम्परा सदैव आचार्यों की ही रही है। सभ्य एवं संस्कृत समाज सदैव उनसे यह अपेक्षा करता रहेगा। स्वार्थी राजनीतिज्ञों के नेतृत्व में समाज का जीवन सुखी एवं संस्कृत नहीं बन सकता।

वर्तमान में आचार्यों का सम्मान एवं आर्थिक स्तर

यह सत्य है कि शिक्षा का व्यवसाय नहीं हो सकता। जीविकोपार्जन के उद्देश्य से जो व्यक्ति शिक्षक बनते हैं उनका जीवन विद्यार्थियों के लिये प्रेरणादायक नहीं बन सकता। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि आचार्यों के वेतन की चिन्ता ही नहीं की जाय। समाज का दायित्व है कि वह शिक्षक के लिये इस प्रकार की व्यवस्था करे जिससे वह आर्थिक चिन्ता से मुक्त रहकर अपने परिवार के भरण–पोषण का कार्य सुचारु रूप से चला सके और निश्चिंत होकर विद्यार्थियों के प्रति अपने दायित्व को पूर्ण कर सके। आचार्य समाज को जो देता है, उसको हम धन से नहीं माप सकते। आचार्य के ऋण से समाज कभी उऋण नहीं हो सकता। आचार्य को समाज सम्मान दे, प्रतिष्ठा दे, वही उससे उऋण होने का सही मार्ग है।

वर्तमान काल में अधिकतर व्यक्ति धनार्जन के उद्देश्य से शिक्षक के रूप में कार्यरत हैं। उनके मन में सदैव असन्तोष व्याप्त रहता है। अधिक–से–अधिक धनार्जन किस प्रकार किया जाय, इसी उधेड़–बुन में वे सदैव लगे रहते हैं। उनका जीवन भोग–प्रधान एवं अनेक प्रकार के दुर्गुणों एवं व्यसनों से युक्त रहता है। ऐसी मनः स्थिति वाले व्यक्ति शिक्षक पद को कलंकित करते हैं, शिक्षा क्षेत्र के लिये भारस्वरूप होते हैं, तथा विद्यार्थियों के जीवन के साथ खिलवाड़ करते हैं। हमें ऐसे व्यक्तियों से शिक्षा–जगत् को मुक्त करने हेतु प्रयत्न करना चाहिए तथा ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि अवांछनीय तत्त्व शिक्षा–क्षेत्र में शिक्षक के रूप में प्रवेश न कर सकें।

शिक्षक सरस्वती का उपासक होता है। उसका जीवन सरल, संयमित एवं त्यागपूर्ण होता है। लक्ष्मी के उपासक व्यक्ति को शिक्षा–क्षेत्र में प्रवेश नहीं करना चाहिए। वह धनार्जन हेतु व्यापारी बने, व्यवसाय करे, परन्तु उसे शिक्षक नहीं बनना चाहिए, इसी में देश एवं मानवता का कल्याण है।

आजकल अन्य श्रमिक–संघों के समान शिक्षकों के भी संघ बन गये हैं जो वेतनादि की वृद्धि एवं अन्य सुविधाओं को प्राप्त करने हेतु आन्दोलन एवं हड़ताल आदि करते रहते हैं। शिक्षा–क्षेत्र के लिये इससे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति नहीं हो सकती। शिक्षक या आचार्य यदि आन्दोलन और हड़ताल करेंगें तो विद्यार्थी वर्ग पर इसका कुप्रभाव अवश्य होगा। ऐसी स्थिति में विद्यार्थियों के जीवन से, और प्रकारान्तर में राष्ट्र के जीवन के साथ खिलवाड़ होता है। देश में कुछ कार्यक्षेत्र इस प्रकार के हैं जिनका सीधा सम्बन्ध राष्ट्र के जीवन–मरण से जुड़ा हुआ है। **सेना, पुलिस, न्याय, चिकित्सा एवं शिक्षा–ये ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें थोड़ी सी भी अव्यवस्था राष्ट्र–जीवन के लिये घातक बन जाती है।** इन क्षेत्रों में किसी भी मूल्य पर आन्दोलन एवं अनुशासनहीनता सहनीय नहीं हो सकती।

समाज को एवं शासन को इस प्रकार की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे शिक्षकों के आन्दोलन करने का अवसर ही न आये। आज शासन की यह स्थिति हो गयी है कि बिना आन्दोलन के उसके कान पर जूँ ही नहीं रेंगती। परन्तु ऐसी स्थिति में शिक्षकों के हितों के लिये संघर्ष छात्रों के अभिभावकों एवं समाज के प्रबुद्ध वर्ग को करना चाहिए, शिक्षकों को आन्दोलन एवं हड़ताल करना किसी भी स्थिति में शोभा नहीं देता और न उसे उचित ही कहा जा सकता है। इस विषय पर शिक्षक एवं समाज को गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

वास्तव में शिक्षक–संघों का उद्देश्य शिक्षकों का शैक्षणिक विकास करना होना चाहिए। उसके लिये विचार गोष्ठियाँ, सम्मेलन आदि आयोजित करने चाहिए तथा शिक्षकों की कुशलता एवं उनके अद्यतन ज्ञान में वृद्धि करने के लिये आवश्यक प्रयास करने चाहिए। शिक्षकों की यह मौन साधना फलदायी हुए बिना नहीं रह सकती।

शिक्षा–क्षेत्र की इस दुरव्यवस्था के लिये वर्तमान शासन–व्यवस्था भी कम दोषी नहीं है। आज राजनीतिक क्षेत्र में नेताओं की पूजा तथा शासन के क्षेत्र में अधिकारियों के दर्प ने सभी नागरिकों को अत्यन्त हीन बना दिया है। शासनाधिकारियों का प्रभुत्व सारे समाज पर छाया रहता है। शिक्षक के पास कोई सत्ता नहीं है, उसके पास कोई अधिकार नहीं है, अतः उसका कोई सम्मान नहीं है। शिक्षकों के सम्मान की बात प्रायः की जाती है। अध्यापकों को राष्ट्रीय पुरस्कार दिये जाते हैं, यद्यपि पुरस्कार–समारोह

के चित्रों में कुर्सियों पर बैठे शासनाधिकारियों के पीछे अध्यापक खड़े किये जाते हैं। नेताओं और शासकों के दर्प ने शिक्षक को हीन बना दिया है।

पूँजीवादी व्यवसाय से बढ़ते हुए आर्थिक वैभव का आकर्षण आज के शिक्षक को सम्मोहित करता है। पाठ्य–पुस्तकों, परीक्षा–कार्य, छात्रों के गृह–शिक्षण आदि के द्वारा वह आर्थिक वैभव का मार्ग खोजता है। विद्या से विमुख होकर वह अर्थ का आराधक बन गया है। राजनीति और शासन में व्याप्त विपर्यय से पराजित होकर ही सरस्वती का साधक लक्ष्मी का उपासक बन गया है।

अतः देश में वर्तमान शासन–व्यवस्था एवं शासकों की मनोवृत्ति में परिवर्तन आने की आवश्यकता है। शिक्षा एवं शिक्षकों के सम्बन्ध में सही दृष्टिकोण अपना कर ही इस विडम्बना को रोका जा सकता है और शिक्षा को राष्ट्र की उन्नति का साधन बनाया जा सकता है। शिक्षकों को शासनाधिकारियों द्वारा व्यक्ति के रूप में नहीं, वरन् पद के रूप में सम्मान देना चाहिए। शासकीय समारोहों में अधिकारियों से ऊपर नहीं तो कम–से–कम उनके समकक्ष सम्मान का स्थान मिलना चाहिए। आवश्यक हो तो यह परिवर्तन विधान बनाकर करना चाहिए। इससे शिक्षक की समाज में भी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। इस प्रकार नेताओं और अधिकारियों से सम्मानित शिक्षकों की समर्पित साधना ही एक गौरवशाली राष्ट्र का निर्माण कर सकेगी।

14

शिक्षा में स्वायत्तता

प्राचीन भारत में शिक्षा–व्यवस्था

भारतीय शिक्षा के इतिहास में हमें यह ज्ञान होता है कि अति प्राचीन काल से ही शिक्षा की व्यवस्था का दायित्व एवं उस पर नियन्त्रण आचार्यों एवं विद्वानों का रहा है। गुरुकुल आश्रमों एवं विश्वविद्यालयों को राज्य की ओर से आर्थिक अनुदान प्राप्त होता था। प्रायः राज्य की ओर से शिक्षा–संस्थाओं के लिये गाँव लगा दिये जाते थे। इतना सब करने के पश्चात् भी राजा का संस्था की व्यवस्था एवं कार्य–संचालन से कोई सम्बन्ध नहीं था। राजकुमारों को भी छात्र के रूप में अन्य छात्रों के समान ही रहना होता था। उनके लिये कोई विशेष व्यवस्था नहीं होती थी। उन शिक्षा–संस्थाओं में विचार–विमर्श करने एवं अन्तिम निर्णय देने के लिये 'परिषद्' नामक संस्था बहुत प्राचीन काल से ही प्रचलित रही। सामान्यतः परिषद् का संगठन 10 सदस्यों के द्वारा होता था। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार इन दस सदस्यों का संयोजन इस प्रकार था :–

चार वेदों के पूर्ण ज्ञाता	–	4 सदस्य
धर्मशास्त्रों के पण्डित	–	3 सदस्य
ब्रह्मचारी (छात्र), गृहस्थ तथा वानप्रस्थ, तीनों के एक–एक प्रतिनिधि	–	3 सदस्य
कुल	–	**10 सदस्य**

इस प्रकार परिषद् के सदस्यों में वेद तथा धर्मसूत्रों के विद्वानों के अतिरिक्त छात्र, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ के प्रतिनिधि भी सम्मिलित रहते थे। परिषद् जैसी उच्च संस्था में छात्रों का प्रतिनिधित्व शिक्षा के इतिहास में एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। लगभग 2500 वर्ष पूर्व भारत में छात्र–समाज को वह सामाजिक सम्मान प्राप्त

था, जो कि आज के तथाकथित प्रजातन्त्रात्मक युग में भी अभी तक उसे अप्राप्य है।[1]

वर्तमान शिक्षा की स्थिति

वर्तमान भारत में विश्वविद्यालय स्वायत्तशासी कहे जाते हैं। किन्तु इनकी स्वायत्ता नाम मात्र की है। विश्वविद्यालयों के कुलाधिपति राज्यपाल होते हैं जो सरकार के अभिन्न अंग होते हैं और जो राजनीतिक व्यक्ति ही होते हैं। अनेक विधान बनाकर सरकारों ने विश्वविद्यालयों के अनेक अधिकार स्वयं ले रखे हैं। 'इण्टर यूनिवर्सिटी बोर्ड' ने मैसूर में आयोजित अपने इकतालीसवें वार्षिक सम्मेलन में विश्वविद्यालयों की स्वायत्ता को प्रभावित करने वाले राज्य सरकारों द्वारा बनाये गये विधानों के सम्बन्ध में चिन्ता व्यक्त करते हुए प्रस्ताव भी पारित किया है।[2] कोठारी शिक्षा आयोग ने भी विश्वविद्यालयों की स्वायत्ता के महत्त्व का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया है। **प्रायः सभी शिक्षाशास्त्रियों एवं शिक्षा आयोगों ने विश्वविद्यालयों को चार क्षेत्रों में पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करने पर बल दिया हैः (1) शिक्षकों का चयन एवं नियुक्तियाँ, (2) पाठ्यक्रम एवं विषयवस्तु निर्धारण, (3) शिक्षण–पद्धति एवं अनुसंधान के क्षेत्रों का चयन तथा (4) विद्यार्थियों का चयन।**

परन्तु कुछ राज्य–सरकारों ने विश्वविद्यालयों के अनेक कार्यों को अपने हाथ में ले लिया है। मध्यप्रदेश, आन्ध्र एवं बिहार राज्य की सरकारों ने विश्वविद्यालयों के शिक्षकों की नियुक्तियों का दायित्व लोकसेवा आयोग को सौंप दिया है। छात्रों की चयन–प्रक्रिया में भी सरकारें विभिन्न प्रकार के आरक्षणों के प्रतिशत दिन–प्रतिदिन बढ़ाकर विश्वविद्यालयों के कार्य में हस्तक्षेप करती रहती हैं। कुलपति की नियुक्तियों के अधिकार प्रायः सभी राज्य–सरकारों ने एवं केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के केन्द्रीय सरकार ने ग्रहण कर लिये हैं। इस प्रकार भारत में विश्वविद्यालयों की स्वायत्ता नाम

---

1. "The representation of the student community on such an authoritative body shows a degree of recognition of special interests and stakes which is not allowed even in modern education organisations, professing advanced democratic ideals."
   —R.K. Mookerji : 'Ancient Indian Education', p. 220.
2. "The Inter University Board notes with grave concern and anxiety some of the recent amendments to University Acts in different States and the consequent deprivation of the academic freedom and responsibility of the Universities."

मात्र की रह गयी है। इसके परिणामस्वरूप अधिकांश विश्वविद्यालय राजनीति के अखाड़े बन गये हैं तथा उनमें शैक्षिक वातावरण प्रायः समाप्त हो गया है।

प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा पर तो लगभग पूर्ण नियन्त्रण है। शिक्षकों की नियुक्तियाँ, पाठ्यक्रम–निर्धारण, पाठ्य–पुस्तकों का प्रकाशन, परीक्षाओं का संचालन आदि कार्य सरकार के द्वारा अथवा उसके अधीनस्थ 'शिक्षा बोर्डों' के माध्यम से सम्पन्न होते हैं। सरकारी शिक्षा–व्यवस्था तन्त्र का विशाल भौतिक ढाँचा खड़ा हुआ है, किन्तु उसमें आत्मा लुप्त है। शिक्षक, आचार्य, प्राचार्य–सभी सरकार की दासता से ग्रसित हैं। शिक्षा–संस्थाओं के पवित्र स्थल राजनीतिक नेताओं की पूजा के स्थल बने हुए हैं। राष्ट्र–निर्माता कहे जाने वाले शिक्षक सरकारी कार्यालय के द्वारों पर ठोकरें खाते फिरते हैं। कार्यालयों के इन्द्र–भवनों से शिक्षकों को उनके अधिकार 'भेंट' चढ़ाने के पश्चात् भिक्षा के रूप में मिलते हैं। इस सरकारी तन्त्र में शिक्षक का सम्मान और विद्या का मूल्य खो गया है। अनुभव यह बता रहा है कि जैसे–जैसे शिक्षा पर सरकार का नियन्त्रण बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे शिक्षा समाप्त होती जाती है। प्राथमिक शालाओं और माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षा नाम की वस्तु दिखाई नहीं देती। शिक्षा आन्तरिक प्रेरणा और स्वतन्त्रता के वातावरण में पल्लवित और पुष्पित होती है, बाहरी दबाव और परतन्त्रता में नहीं।

सरकारी नियन्त्रण से मुक्त शिक्षा–व्यवस्था हो

भारत में लोकतान्त्रिक दलीय शासन–व्यवस्था है। यह उपयुक्त भी है। इस पद्धति में विभिन्न विचारधाराओं के राजनीतिक दल चुनाव में जीतने पर शासन सँभालते हैं। उस स्थिति में शासन से नियन्त्रित शिक्षा की नीति राजनीतिक दलों की विचारधारा के अनुसार निर्धारित होती है। प्रति पाँच वर्ष पश्चात् दलीय सरकारें बदलती रहती हैं और शिक्षा की नीति में भी परिवर्तन होता रहता है। परिणामतः राष्ट्रीय शिक्षा नीति एवं व्यवस्था की जड़ें जम नहीं पातीं। यही नहीं, एक दल की सरकार होने पर भी शिक्षा–मंत्री बदलते रहते हैं और शिक्षा–नीति भी उसी मंत्री के साथ बदलती रहती है। भारत में शिक्षा के साथ यह खिलवाड़ स्वतन्त्रता–प्राप्ति के दिन से ही हो रहा है। इसका परिणाम हमारे सामने है। आज शिक्षा–जगत् में राजनीतिक क्षेत्र के समान ही अस्थिरता एवं अराजकता व्याप्त है।

अतः यह राष्ट्रीय अनिवार्यता है कि शिक्षा को सरकारी नियन्त्रण से पूर्णतः मुक्त रखा जाय। भारत में शिक्षा सरकार की दासी के रूप में रहकर कभी राष्ट्रीय उन्नति का साधन नहीं बन सकती।

न्यायपालिका के समान शिक्षा की स्वतन्त्र व्यवस्था हो

अतः यह आवश्यक है कि देश में शिक्षा की भी न्यायपालिका के समान स्वतंत्र व्यवस्था हो। इसके लिये देश के संविधान में परिवर्तन अपेक्षित है। जिस प्रकार न्यायपालिका की सम्पूर्ण व्यवस्था का आर्थिक भार सरकार वहन करती है, उसी प्रकार शिक्षा–व्यवस्था का आर्थिक दायित्व सरकार को सँभालना होगा। परन्तु उसे शिक्षा क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का उसी प्रकार अधिकार नहीं हो, जिस प्रकार न्यायपालिका में सरकार को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। इस व्यवस्था में ही भारत की शिक्षा वर्तमान संकट से मुक्त हो सकती है।

आचार्यों एवं शिक्षाविदों के द्वारा नियमन

यह सत्य है कि कोई भी व्यवस्था नियमन के बिना नहीं चल सकती। शिक्षा–व्यवस्था के लिये भी नियमन आवश्यक है। किन्तु शिक्षा–क्षेत्र का नियमन आचार्यों एवं शिक्षाविद्‌ों के द्वारा हो। इसके लिये राष्ट्रीय स्तर से लेकर राज्य स्तर और जनपद स्तर तक प्राचीन भारत के समान परिषदें गठित की जायें, जिनके सदस्य आचार्य एवं विद्वान रखे जायें। समाज के प्रबुद्ध वर्ग एवं वरिष्ठ छात्रों का प्रतिनिधित्व भी उसमें हो। विश्वविद्यालयों एवं विभिन्न विद्यापीठों की व्यवस्था के लिये उनकी स्वतन्त्र परिषदें हों।

शिक्षा–संस्थाओं की प्रबन्ध–समितियों में शैक्षिक क्षेत्र के व्यक्तियों का बहुमत हो

वर्तमान में शिक्षा–संस्थाओं की प्रबन्ध–समितियों में अधिकांश ऐसे सदस्य होते हैं जिनको शिक्षा की पद्धतियों एवं सूक्ष्म तत्त्वों का साधारण ज्ञान भी नहीं होता। प्रबन्ध–समितियों में प्रायः वे व्यक्ति सदस्य होते हैं जो शिक्षा–संस्थाओं को दान देते हैं। दान के बदले में ये व्यक्ति प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष अथवा प्रबन्धक बनकर शिक्षा–संस्थाओं पर शासन करते हैं तथा शिक्षकों एवं आचार्यों को निर्देश देते हैं। अनेक स्थानों पर राजनीतिक व्यक्ति प्रबन्ध–समितियों पर अधिकार जमा लेते हैं और उनके कारण शिक्षा–संस्थाएँ राजनीति के अड्डे बन जाती हैं। अतः इस प्रकार के नियम बनने चाहिए जिससे प्रबन्ध–समितियों में आचार्यों एवं विद्वानों का बहुमत हो।

प्रबन्ध–समितियों के सदस्यों को यह अनुभूति होना भी आवश्यक है कि उनका कार्य शिक्षा की व्यवस्था में योगदान करना है जिससे आचार्य अपना शिक्षण का कार्य भली प्रकार कर सकें। प्रबन्धक या प्रबन्ध–समीति के सदस्य आचार्यों के अधिकारी नहीं हैं, वरन् उनके सहयोगी हैं। प्रायः यह देखने को मिलता है कि सामान्य

पढ़े–लिखे व्यक्ति धन के बल पर प्रबन्धक बन जाते हैं और वे प्रधानाचार्य या आचार्य को अपना अधीनस्थ कर्मचारी समझकर उनके साथ व्यवहार करते हैं। यह स्थिति शिक्षा के लिये पोषक नहीं है। राष्ट्रपति न्यायाधीशों की नियुक्ति करते हैं, सरकारी कोष से न्यायाधीशों को वेतन मिलता है, किन्तु न्यायाधीश राष्ट्रपति के अधीनस्थ नहीं होते। न्यायालय में राष्ट्रपति को भी यदि उपस्थित होना होता है तो उनके साथ भी अन्य नागरिकों के समान ही व्यवहार किया जाता है। प्रबन्धकों का आचार्यों एवं प्रधानाचार्यों के साथ इसी प्रकार का सम्बन्ध अपेक्षित है। शिक्षा–संस्था में प्रधानाचार्यों एवं आचार्य का स्थान सर्वोपरि है। आचार्यों की इस गरिमा की सुरक्षा शिक्षा एवं विद्यार्थियों के हित में आवश्यक है।

उपसंहार

इस प्रकार हमारी शिक्षा–व्यवस्था में अनेक विडम्बनाएँ पल रही हैं। **राष्ट्र और शिक्षा के सम्बन्ध में सही दृष्टिकोण अपनाकर ही इन विडम्बनाओं से मुक्ति मिल सकती है और शिक्षा को राष्ट्र की उन्नति का माध्यम बनाया जा सकता है।** सभ्यता के युग में शिक्षा ही राष्ट्र की उन्नति का मार्ग है। विद्या को राष्ट्रीयता का विधायक तथा राष्ट्रीयता का समानातंर मूल्य मानने पर ही शिक्षा की फलदायक व्यवस्था संभव हो सकती है। हम राष्ट्र और विद्या के सेवक बनकर ही राष्ट्र निर्माता बन सकते हैं। इसके लिये नेता, अधिकारी एवं आचार्य – तीनों को अपनी व्यक्तिगत महिमा का दम्भ छोड़ना होगा, तभी हमारी शिक्षा संस्थाएँ राष्ट्र निर्माण के तीर्थ होंगी और विद्यार्थियों को राष्ट्र की विभूति मानकर उन्हें अभ्युदय की दिशाओं में प्रेरित कर सकेंगी।

सन्दर्भ–ग्रन्थ सूची

1. छान्दोग्य उपनिषद्
2. श्रीमद् भगवद्गीता
3. श्री गुरुजी – समग्र दर्शन
4. मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा – डा. सीताराम जायसवाल
5. शिक्षा के आयाम – श्री अरविन्द, पाण्डिचेरी
6. योग समन्वय – श्री अरविन्द, पाण्डिचेरी
7. शिक्षा – स्वामी विवेकानन्द, श्री रामकृष्ण मिशन आश्रम, नागपुर
8. व्यक्तित्व सिद्धान्त – डा. सीताराम जायसवाल
9. योग समन्वय (उत्तरार्ध) – श्री अरविन्द, पाण्डिचेरी
10. पातंजल योगसूत्र
11. शिव संहिता
12. दर्शनोपनिषद्
13. शिक्षा – श्री माताजी, अरविन्द आश्रम
14. शारीरिक शिक्षा एवं केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड की रिपोर्ट
15. गीता प्रवेश – श्री महेशानन्द गिरि
16. शिक्षण और संस्कृति – गांधी साहित्य प्रकाशन
17. मालविकाग्निमित्र – कालिदास
18. मनुस्मृति
19. शिक्षा– रवीन्द्रनाथ ठाकुर
20. राष्ट्रचिन्तन– पं. दीनदयाल उपाध्याय
21. शिक्षा और संस्कृति– डा. रामानन्द तिवारी
22. शिक्षा दर्शन – पं सीताराम चतुर्वेदी
23. जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि– डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन

24. Education in Ancient India- Dr. A. S. Altekar
25. 'Learning to be'-
Report of the International Commission on the Development of Education, 1971 (UNESCO)
26. Report of the Committee on Emotional Integration 1962, Ministry of Education, Government of India.
27. Report of the Education Commission -
1964-65, (Kothari Commission) Ministry of Education, Govt. of India.
28. Hints on National Education - Sister Nivedita.
29. Report of the University Education Commission -
1948-49, (Dr. Radhakrishanan Commission)
Ministry of Education, Govt. of India.
30. Shree Aurovindo and Mother on Education.
31. Ancient Indian Education - R. K. Mookerji.
32. Report of Secondary Education Commission -
1952-53, (Mudaliar Commission)
Ministry of Education, Govt. of India.